साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण का नया युग और लेनिनवाद

'नवीनतम' साम्राज्यवाद के बारे में प्रख्यात वाम अर्थशास्त्री प्रो. प्रभात पटनायक के विचारों की समग्र आलोचना का एक प्रयास

यह लेख साम्राज्यवाद और वित्तीय पूंजी के बारे में प्रख्यात वाम अर्थशास्त्री प्रभात पटनायक के नवीनतम विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा का एक प्रयास है। इसके लिए इनकी नयी पुस्तक साम्राज्यवाद : नया और पुराना (लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली द्वारा सन 2004 में प्रकाशित) में मौजूद दो लेखों ''साम्राज्यवाद : 'नया और पुराना'' तथा ''जनतंत्र-वर्ग संघर्ष के एक ठिकाने के रूप में'' को लिया गया है। पहले लेख में पटनायक नयी वित्तीय पूंजी की एकजुटता, इस एकजुटता के दीर्घायु होने की संभावना, निकट भविष्य में अंतरसाम्राज्यवादी युद्धों व क्रांतिकारी गृह-युद्धों की असंभवता (impossibility)और साम्राज्यवादियों की एकताबद्ध ताकत के द्वारा तीसरी दुनिया के देशों के दीर्घकालिक संयुक्त शोषण आदि पर जोर देते हैं। दूसरे लेख में वे इन परिस्थितियों से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जनपक्षीय आंदोलन का आज का मुख्य कार्यभार (पूंजीवादी) जनतंत्र की रक्षा करना तथा इसे और गहरा बनाना है। इससे स्वत: समाजवाद के लिए संघर्ष का कार्यभार सुदूर भविष्य के लिए मुल्तवी हो जाता है। समाजवाद सुदूर भविष्य की एक संभावना या महज एक चाहत में बदल जाता है। समाजवाद के लिए संघर्ष के नेपथ्य में चले जाने के बाद बाकी क्या बच जाता है, इसकी चर्चा भी पटनायक करते हैं।

हम अगर इनकी एक अन्य पुस्तक "The Retreat To Unfreedom" के तीसरे लेख "War, Peace And Nationalism" पर गौर फरमाते हैं तो हम पाते हैं कि इनके ये सभी विचार यहां भ्रूण रूप में, परंतु, सशक्त रूप तथा स्पष्ट रूप से, इस लेख में मौजूद हैं। वे लिखते हैं कि साम्राज्यवादियों के बीच अनुमान करने योग्य भविष्य (foreseeable future) में कोई युद्ध होने वाला नहीं है। वे यह भी लिखते हैं कि लेनिन ने अंतरसाम्राज्यवादी युद्ध की पृष्ठभूमि में जिस क्रांतिकारी गृह-युद्ध की बात कही थी, उसकी कोई संभावना नहीं है। और तब समाजवाद की जीत के लिए संघर्ष की भी कोई ठोस वजह नहीं हो सकती है, जैसा कि पहले कहा गया है। शेष क्या बचता है ? इनके अनुसार, अब जो युद्ध होने बाकी हैं या होंगे, उनमें से एक वे हैं जो तीसरी दुनिया के देशों के बीच आपस में होंगे। इसे वे ''अलगाववादी आवेग'' (Secessionist impulse) कहते हैं जो इसलिए होंगे क्योंकि भूमंडलीकरण और नवउदारवाद के इस युग में समस्त तीसरी दुनिया गरीबी, भुखमरी, रोग, अपराध और परस्पर विरोध से बजबजाती गंदी बस्तियों में तब्दील हो जाएगी और होती जा रही है। इन सबके कारण संप्रदायवादी, साम्प्रदायिकतावादी बंटबारे तथा अन्य सभी तरह के स्थानीय विद्वेष और घृणा के पैदा होने व उनके प्रसार के लिए काफी मात्रा में उर्वर भूमि प्राप्त होगी और हो रही है। ऐसे विद्वेषपूर्ण झगड़े एक सीमा से आगे बढ़ जाने के बाद अलगाववाद और युद्धों को जन्म देते हैं। फिर इनके बहाने साम्राज्यवादियों का हस्तक्षेप होता है जो युद्ध में परिणत हो जाता है। जाहिर है वे स्वत:स्पष्ट और आंखों के सामने घटित हो रही चीजों को सैद्धांतिक रूप से पेश कर रहे हैं। परंतु, ध्यान वाली बात यह है कि मेहनतकशों की विशाल आबादी के बीच गरीबी, भुखमरी और कुपोषण आदि का फैलता साम्राज्य सर्वहारा क्रांति की संभावना को भी पैदा कर सकती हैं (निस्संदेह अगर बाकी चीजें भी मौजूद हों) इस पर वे विचार ही नहीं करते हैं।

दूसरे, वे कहते हैं, चूंकि तीसरी दुनिया के ''अपेक्षाकृत'' एकताबद्ध देश अर्थात अलगाववादी आवेग के प्रतिक्रियावादी प्रभाव से मुक्त या इससे निपटने में सक्षम तीसरी दुनिया के देश 'साम्राज्यवादी वैश्विक व्यवस्था' के लिए अपने आप चुनौती बन जाते हैं या साम्राज्यवादी देश उसे चुनौती के रूप में ले लेते हैं और इसीलिए वे 'साम्राज्यवादी वैश्विक व्यवस्था' के प्रति स्वत: विरोध को व्यक्त करते हैं, इसलिए स्वभाविक तौर पर वे मेट्रोपोलिटन शक्तियों के हस्तक्षेप और उनके द्वारा आरोपित युद्ध के संभावित तथा स्वाभाविक निशाने बन जाते हैं। और तब इससे दूसरे तरह के युद्ध की जमीन तैयार होती है जो तीसरी दुनिया के कुछ चुनिंदा राष्ट्रों और साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच हो सकते हैं। जाहिर है यह एक सकारात्क किस्म का युद्ध होगा। पटनायक लिखते हैं - "Interventions occur not only in cases of internal conflicts ; even a relatively united third world country, which expresses opposition to the 'global order', becomes a potential target for intervention and for unleashing of war by metropolitan powers. ...Wars within the third world countries, which as a fall-out of the 'global order', and wars between particular third world countries challenging the 'global order' and the combined might of the big powers insistent on imposing this 'order', will certainly be a feature of the emerging epoch." - He writes) (page- 43, ibid)

फिर वे शांति की बात को इसी जगह से और इसी नजरिए से उठाते हैं और कहते हैं कि ऐसी परिस्थिति में शांति का अर्थ है - साम्राज्यवादियों की मेट्रोपॉलिटन व्यवस्था का विरोध जिसका अर्थ होगा उस खास देश का मेट्रोपॉलिटन व्यवस्था से सम्बंध-विच्छेद, जिसके लिए जनपक्षीय ताकतों को ''विकास का एक राष्ट्रीय एजेंडा बनाकर और इसके लिए राष्ट्र-राज्य का इस्तेमाल करते हुए'' चलना पड़ेगा, ''भले ही यह पूरा संघर्ष अंतरराष्ट्रीयतावाद के प्रति पूरी तरह प्रतिबद्ध न हो।'' पटनायक लिखते हैं - "The quest for peace, in other words, must entail a struggle against this order. But, such a struggle, which , realistically, must mean the delinking of particular countries

from this order, can only be launched by using the nation state to pursue a national agenda of development. In short, no matter how committed such a struggle is to internationalism, it has to be 'national' in character." - He writes.) (Bold ours)

शायद इसमें उनका इशारा इस तरफ है कि एक पूरा पूंजीवादी मुल्क या राष्ट्र साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था (तथाकथित 'वैश्विक व्यवस्था') से अपना संबंध-विच्छेद कर सकता है और करना चाहिए। वे इस पर विचार नहीं करते हैं कि एक पूंजीवादी मुल्क इस वैश्विक व्यवस्था से कैसे बाहर निकल सकता है जब तक कि वह मुल्क स्वयं ही पूंजीवादी सम्बंधों से बाहर नहीं आ गया हो या कम से कम एक ऐसी अंतवर्ती अवस्था में आ गया हो जहां से आगे का रास्ता निश्चित तौर पर पूंजीवादी सम्बंधों से बाहर जाने का रास्ता होगा (मजदूर वर्ग के नेतृत्व वाले तथाकथित नवजनवाद या पिपुल्स डेमोक्रैसी का रास्ता)। दोनो ही हालातों में राष्ट्रीय एजेंडा की बात और वर्तमान राष्ट्र-राज्य का इस्तेमाल करने की नीति परिवर्तनकामी नीति या बात नहीं मानी जाएगी। हम आगे इन सब पर विचार करेंगे।

आगे वह इस राष्ट्रवाद के बारे में स्पष्ट करते हैं कि वे साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद और उत्पीड़कों के राष्ट्रवाद से अलग उत्पीड़ितों के राष्ट्रवाद की बात कर रहे हैं। वे लेनिन को अपनी बात के समर्थन में लाने की कोशिश करते हैं बिना यह बताये कि उत्पीड़ितों का राष्ट्र तब तक संभव नहीं होगा जब तक कि आज के उत्पीड़ित शासक वर्ग न बन जाएं। वे दरअसल ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील भूमिका निभाने वाले एक ऐसे राष्ट्रवाद की बात करते हैं जो साम्राज्यवाद विरोधी, धर्मनिरपेक्ष, जनवादी होने के साथ-साथ समाविष्टकारी (inclusive) भी हो, और जो जनता की मुक्ति का एजेंडा लिए भी हो, आदि आदि। वे लिखते हैं - "The 'nationalism that can play a historically progressive role is the type of 'nationalism' that informed our freedom struggle and the struggle for decolonization all over the third world, which is anti-imperialist, secular, democratic, inclusive, and has an agenda of emancipation of people through an improvement inter alia (among other things*) in their material living conditions." - He writes. (Bold ours) हम इस लेख में आगे देखेंगे कि इनके उपर्युक्त सिद्धांत में ''समाविष्टकारी (inclusive)'' शब्द किस बात का द्योतक है। और, आगे यह भी देखेंगे कि इनके विकास के राष्ट्रीय एजेंडे की बात इनकी दूसरी रचना में किस तरह प्रकट होता है।

इस तरह लेनिन ने साम्राज्यवाद के दौर में जिन चार तरह के युद्धों के बारे मे लिखा था, जैसा कि पटनायक स्वयं लिखते हैं, उनमें से उपर्युक्त दो तरह के युद्धों के अलावे पटनायक और किसी तरह के युद्ध की, खासकर अंतरसाम्राज्यवादी युद्ध और समाजवाद के लिए गृह-युद्ध की किसी संभावना से, कम से कम अनुमान लगाने योग्य भविष्य (foreseeable future) में, पूरी तरह इनकार करते हैं। वे साफ-साफ लिखते हैं - "It follows that durable peace is a chimera in the the era of imperialism. To be sure, the prospects of inter-imperialist wars such as what Lenin had written about have receded, at least in the foreseeable future. With the collapse of Socialism over much of the globe, the prospects of war between Capitalism and Socialism have also receded for the moment." - He writes. (Bold ours) इसका एक अर्थ यह है कि पटनायक यह समझते हैं कि आज के दौर में समाजवाद के लिए संघर्ष व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से विचारयोग्य नहीं है। यह महज आदर्श की एक चीज, एक चाहत है और एक स्वप्न है, जो कभी, सुदूर भविष्य में, पूरा होगा। इसका दूसरा अर्थ यह है कि वे आज के दौर के हवाले से साम्राज्यवाद सम्बंधी लेनिनवादी समझ को महज राष्ट्रीय आंदोलन तक सीमित कर देते हैं अर्थात लेनिनवाद, जो साम्राज्यवाद के युग में सर्वहारा क्रांति के रणनीतिक व कार्यनीतिक सिद्धांतों व कार्यवाहियों की नीतियों का योग है, को एक कोरे राष्ट्रवाद में परिणत कर देते हैं। यह मुद्दा अलग से एक संपूर्ण बहस की मांग करता जो इस लेख के दायरे से बाहर की चीज है।

संक्षप में, श्री पटनायक का मानना है कि अब निकट भविष्य में अंतरसाम्राज्यवादी युद्ध नहीं होंगे। वित्तीय पूंजी एकबद्ध हो गई है, उनकी सत्ता में कोई दरार नहीं है और निकट भविष्य में ऐसे किसी दरार की कोई संभावना भी नही है। क्रांतिकारी गृह-युद्ध भी नहीं होगा। इसीलिए स्वभाविक है कि समाजवाद का भी निकट भविष्य में कोई भविष्य नहीं है। तब क्या लेनिनवाद की प्रासंगिकता वास्तव में रह जाती है? इस लेख में इसका तथा इसी तरह के अन्य प्रश्नों का प्रत्युत्तर देने की यथासंभव कोशिश की गई है।

एक बात और। यद्धपि यह एक आलोचनात्मक लेख है, तथापि, इसका एक बड़ा उद्देश्य सकारात्मक तरीके से साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण की यथासंभव मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्याख्या प्रस्तुत करना भी है, ताकि पाठकों को आज के साम्राज्यवाद के बारे में एक समग्र और स्पष्ट समझदारी बनाने में मदद मिल सके।

(i)

यह सच है कि भूमंडलीकरण बहुत मायनों में एक नये युग का प्रतिनिधित्व करता है। प्रगतिशील व क्रांतिकारी जमात बहुधा इसके साथ साम्राज्यवादी शब्द जोड़कर इसका पूरा अर्थ बताते हैं - साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण। साम्राज्यवाद के अंदर विकसित हो चुके और विकसित हो रहे नये-नये तत्त्वों का तथा इसकी काया एवं बाह्य संरचना में हुए भीमकाय व सुक्ष्म दोनों तरह के परिवर्त्तनों का ज्यादा से ज्यादा गहराई से अध्ययन जरूरी

है। इसीलिए भूमंडलीकरण के इस युग का समग्रता में अध्ययन करना, इसकी तह में जाकर इसकी कार्यप्रणाली की जानकारी हासिल करना और जनपक्षीय व मजदूर वर्गीय आंदोलन को नये तथ्यों और सिद्धांतो से लैस करना शुरू से ही हम सब की एक महत्वपूर्ण जिम्मेवारी रही है। साम्राज्यवाद की हमारी अपनी लेनिनीय समझदारी को और पक्का बनाने के लिए भी इस जिम्मेवारी का गंभीरता से पूरा किया जाना जरूरी है। फिर भी, जिन लोगों ने लेनिन की कृति 'साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था' का गहराई से अध्ययन किया है, वे इस बात से सहमत होंगे कि साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण और कुछ नहीं अन्य बातों के अलावा लेनिन द्वारा रेखांकित साम्राज्यवाद की सभी बुनियादी प्रवृतियों का तथा इसके सतत विकासमान दैत्याकार रूपों का आवर्धित प्रतिबिम्ब भर है और कुछ नहीं। इस पर शायद ही किसी को विवाद हो कि यह आवर्धन सामान्य किस्म का नहीं है। इसकी कुछ अपनी खास और आंखें चौंधिया देने वाली विशेषताएं भी हैं।

प्रत्येक नया युग नये विभ्रमों को भी जन्म देता है। इसीलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि कुछ लोगों को भूमंडलीकरण का 'नया' युग पुराने साम्राज्यवाद से बिल्कुल अलग और यहां तक कि विपरीत दिख सकता है। यह कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है कि कुछ वाम व कम्युनिस्ट सिद्धांतकार भी इस चकाचौंध में अंशत: या पूर्णत: अपनी बुद्धि खो बैठे हों। भूमंडलीकरण के इस युग में वित्त पूंजी के बुनियादी चरित्र को लेकर तरह-तरह की कुछ नई धारणायें उठ खड़ी हुई हैं हम यह जानते हैं। कोई बिल्कुल नयी वित्तीय पूंजी की बात कर रहा है, तो कोई साम्राज्यवाद के एक और नये युग या साम्राज्यवाद की अंतिम अवस्था आदि की बात कर रहा है। समग्रता में एक ऐसी नयी वित्तीय पूंजी की बात की जा रही है जिसे संपूर्णता में लेनिन द्वारा वर्णित वित्तीय पूंजी के चरित्र से विपरीत या कम से कम अलग चरित्र वाली वित्तीय पूंजी कहा जा रहा है। कहा जा रहा है कि भूमंडलीकरण में ऐसा कुछ नया (बुनियादी तौर पर) है जो लेनिन के जमाने में नहीं था और जिसके बारे में लेनिन ने हमें नहीं बताया है। हमारा मानना है कि अगर वास्तव में बुनियादी तौर पर कुछ नया है, तो इसे कम्युनिस्ट व मजदूर आंदोलन के ध्यान में लाया जाना जरूरी है। परंतु, अगर यह पुरानी और बेकार की बातों (जैसे काउत्सकीपंथी विचारों) का नये लेबल के साथ पुनरुत्पादन मात्र है, तो निस्संदेह इसकी पूरी मुखालफत जरूरी है। किसी भी हाल में इस बात को बस टरकाया नहीं जा सकता है। यह भी सच है कि साम्राज्यवाद के बारे में गंभीरतापूर्वक और जिम्मेवारीपूर्ण ढंग से **नयी** बातों की घोषणा करने वालों में स्वयं वाम अर्थशास्त्री भी पीछे नहीं हैं। इसी संदर्भ में हम नामी और प्रख्यात 'वाम' अर्थशास्त्री श्री प्रभात पटनायक का नाम ले सकते हैं जो 'नवीनतम' साम्राज्यवाद के बारे में लगातार और जोर-शोर से नयी बातें पेश करते रहे हैं और अभी भी कर रहे हैं। हम पाते हैं कि इनकी बातों की छानबीन करने की हमारी कोशिश प्रकारांतर में साम्राज्यवाद की लेनिनवादी समझ की रक्षा के हमारे गंभीर कार्यभार का एक अहम हिस्सा बनती गई। आइए, हम सीधे चर्चा के मूल विषय पर आ जाएं।

(ii)

प्रभात पटनायक पिछले कुछ वर्षों से लगातार यह कहते चले आ रहे हैं कि आज का साम्राज्यवाद लेनिन के जमाने के साम्राज्यवाद से भिन्न है। इस भिन्नता को वे स्पष्ट और जोरदार ढंग से रखते रहे हैं। इसके साथ-साथ वे मजदूर वर्ग के आंदोलन की कार्यनीति, रणनीति और कौशल में भी बुनियादी बदलाव की जरूरत की बात करते रहे हैं। अगर वास्तव में साम्राज्यवाद के चरित्र में कुछ नये बुनियादी तत्व **सदेह** प्रकट हो गये हैं, तो ये नये तत्त्व निस्संदेह मजदूर वर्ग के आंदोलन के कौशल और रणनीति में तदनुरूप परिवर्तन की मांग करेंगे यह सच्चाई है। इसलिए प्रभात पटनायक जिन परिवर्त्तनों की बात कर रहे हैं उनकी वस्तुगत और तथ्यात्मक सच्चाई पर गौर करना जरूरी है। यह गौर करना जरूरी है कि उनके द्वारा बताए जा रहे परिवर्त्तन क्या हैं और वे कितने सही हैं। यह भी गौर करना जरूरी है कि उन्होंने इन परिवर्त्तनों के आलोक में मजदूर व कम्युनिस्ट आंदोलन की रणनीति व कौशल में कौन से परिवर्तन की सलाह दी है। वैसे भी, देश के एक प्रख्यात वाम अर्थशास्त्री के द्वारा जब यह लगातार कहा जा रहा है कि आज की वित्तीय पूंजी का चरित्र भिन्न हो गया है, पूरे तौर पर नहीं भी तो आशिंक रूप से जरूर ही भिन्न हो गया है, तो क्रांतिकारी कम्युनिस्ट आंदोलन को इस पर विचार करना की होगा। मसलन, क्या ये ऐसे परिवर्तन हैं जो **सर्वथा** नये हैं और हमें लेनिन की थेसिस से अर्थात लेनिनवाद से आगे ले जाते हैं? प्रश्न यह भी है कि क्या इन बातों की छानबीन करने में उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा व क्षमता के अनुरूप आचरण किया है?

जब पटनायक कहते हैं कि भूमंडलीकण की मुख्य प्रेरक शक्ति नये अवतार वाली एक ऐसी वित्तीय पूंजी है जिसके जन्म का रिश्ता यूरो डॉलर बाजार के जन्म और विस्तार की एक अतिविलक्षण घटना से जुड़ा हुआ है, तो वे बिल्कुल सही फरमाते हैं। यूरो डॉलर मार्केट का जन्म पचास और साठ के दशक में अमेरिकी चालू खाते में भारी घाटे के कारण हुआ। यह अन्य तात्कालिक कारणों में से सबसे महत्वपूर्ण कारण था। इससे अमेरिकी डॉलर के बाह्य-निकास की स्थिति बनी। उस समय प्रचलित ब्रेटेन वुड्स प्रणाली ने ''खरा सोना'' कह कर इसकी प्रतिष्ठा बढ़ायी। इससे इसके बाजार के विस्तार में काफी मदद मिली। कहा जाता है कि इस अप्रत्याशित विस्तार ने विदेशी मुद्रा व्यापार को अंतराष्ट्रीय बाजार में विदेशी मालों और सेवाओं की खरीद-बिक्री से **पूरी तरह** स्वतंत्र एक सर्वशक्तिशाली अंतरराष्ट्रीय परिघटना बना दिया। पटनायक ठीक इसी तरह की बात नहीं करते हुए भी इसी तरह की बात अंतत: कहते हुए प्रतीत होते हैं। **तभी** वे यह कह पाते हैं कि नयी वित्तीय पूंजी 'बैंकों के द्वारा नियंत्रित पूंजी और उद्यमियों के द्वार लगायी जाने

वाली पूंजी' नहीं है या 'यह साम्राज्यवादी देशों में 'बैंक और औद्योगिक पूंजी का परस्पर जुड़ना' भी नहीं है, जैसा कि लेनिन ने कहा था।' इस पर हमने आगे विस्तार से बातें की है।

दरअसल, वे इसी बात को अपने पहले के लेखों में दूसरे ढंग से रखते रहे हैं जो प्रभावशाली रूप से तार्किक होते हुए भी इससे जुड़ी अन्य महत्वपूर्ण चीजों के बारे में सोच-विचार पर विराम लगा देती है। वे पूंजी व मालों की 'स्वतंत्र' आवाजाही के माध्यम से विश्वपूंजीवादी अर्थव्यवस्था में होने वाले अनुकलन/एकीकरण (अर्थात वर्तमान भूमंडलीकरण) के फलस्वरूप तीसरी दुनिया के विकास का सिद्धांत देने वालों की खबर लेते हैं और वे बिल्कुल ठीक करते हैं। परंतु, जैसे ही वे वित्तीय पूंजी के चरित्र पर आते हैं, वैसे ही उन्हें लगने लगता है कि नयी वित्त पूंजी पूरी तरह अनुत्पादक चीज है, हवा पीकर जिंदा रहने वाली चीज है या एकमात्र हवा में से मुनाफा उत्पन्न करने वाली कोई वस्तु है। तब एक प्रभावशाली तर्क मानो स्वयं का निषेध कर देती है और एक ऐसे भ्रूण में तब्दील हो जाती है जो उनकी आगे की रचनाओं में सर्वथा नयी, एकजुट और पूरी तरह अनुत्पादक वित्तीय पूंजी की एक पूरी तरह आदमकद प्रजाति के रूप में प्रकट होती है और लेनिनवाद का मुंह चिढ़ाती प्रतीत होती है।

अपनी पहले की एक पुस्तक में वे कहते हैं कि भूमंडलीकरण के इस दौर में जिस पूंजी के प्रवाह में ''नाटकीय वृद्धि'' हुई है, वह उत्पादन में लगी पूंजी नहीं, वित्तीय पूंजी है। इसके लिए वे बड़े पूंजी निर्यातक दशों के चालू खाते का हवाला देते हैं और कहते हैं कि तीसरी दुनिया को इस पूंजी की स्वतंत्र आवाजाही के लिए खोले जाने से यह सट्टाबाज 'गरम मुद्रा' के प्रवाह डुब गई है और यहां की सरकारों की मुख्य चिंता आज अंतरराष्ट्रीय सट्टेबाजों को खुश करने वाली नीतियां बनाने की हो गई है।'

बात यह है कि इसमें नयी बात कुछ नहीं है। लेनिन की थेसिस को पढ़ने वाले लोग जानते हैं कि लेनिन ने आज से लगभग सौ साल पहले ही यह दिखा दिया था कि साम्राज्यवाद एकाधिकारी अवस्था वाला एक ऐसा पूंजीवाद है जिसमें वित्तीय अल्पतंत्र सर्वाधिक वर्चस्व की स्थिति में होता है और होगा। यह सच है कि वित्तीय अल्पतंत्र अपने को किसी भी बंधन में बांधना नहीं चाहता है, सर्वथा स्वतंत्र रहना चाहता है। यह उसके मूल चरित्र में है। लेकिन सवाल तो यह है कि क्या यह **पूरी तरह** स्वतंत्र होने की अपनी चाहत को वास्तव में पूरा कर सकता है? क्या यह कुल सामाजिक पूंजी में कुछ न कुछ इजाफा किए बगैर स्वयं जिंदा रह सकता है? यह उसी ढंग की बात है जिस तरह निजी पूंजी उपयोग मूल्य को नहीं, सिर्फ विनिमय मूल्य को जानती और पहचानती है, परंतु यह भूल जाती है कि कुल सामाजिक उत्पादन में प्रसार के लिए, (इस तरह) कुल सामाजिक पूंजी (aggregate socal capital) के पुनरुत्पादन के लिए तथा समाज में संवर्द्धित पैमाने पर पुनरुत्पादन के लिए भौतिक रूप में मूल्यों की उपलब्धता और उसका लगातार प्रतिस्थापन (availability and constant replacement of values in their material shape) जरूरी है। पूंजी की इस जन्मांधता की क्षतिपूर्ति स्वयं वह राज्य करता है जो पूंजीवादी समाज का आधिकारिक प्रतिनिधि होता है, क्योंकि, हम जानते हैं कि, ऐसा नहीं होने पर उद्योगों की भिन्न-भिन्न शाखाएं ''हिंसात्मक'' रूप से आपस में टकराने लगेंगी।

इसी तरह, यह सच होते हुए भी कि विदेशी मुद्रा व्यापार की एक खास ढंग की और अपेक्षाकृत 'स्वतंत्र' हैसियत हो गयी है और इसकी 'स्वतंत्र' हैसियत ने अंतरराष्ट्रीय माल व सेवा व्यापार से इसके पुराने तात्कालिक और सीधे (immediate and direct) रिश्ते को बहुत हद तक कमजोर कर दिया है, फिर भी यह मानना गलत होगा कि मालों और सेवाओं से पूरी तरह स्वतंत्र विदेशी मुद्रा व्यापार का कोई निरपेक्ष और निरंकुश अस्तित्व वास्तव में संभव है। यह मानना गलत होगा कि एकमात्र तात्कालिक और सीधे रिश्ते हीअसली चीज होती है। सब कुछ के बावजूद, मालों और सेवाओं से पूरी तरह स्वतंत्र विदेशी मुद्रा व्यापार का कोई निरपेक्ष और निरंकुश अस्तित्व (absolute existence) अंतत: नहीं हो सकता है। पूंजीवाद में इसके प्रतिकारक पैदा होते रहते हैं जिनके द्वारा यह स्थिति अभ्यानुकूलित या किंचित परिवर्त्तित (modified) होती रहती है। आइए, हम इसे थोड़ा विस्तार से समझने की कोशिश करें।

(iii)

पूंजीवादी विकास के आम नियम अर्थात इसमें होने वाले संकेंद्रण और केंद्रीकरण का यह एक निश्चित परिणाम होता है कि पूंजी के स्वामित्व को उत्पादन और व्यापार में पूंजी लगाने वालों के स्वामित्व से अलग कर दिया जाता है। धीरे-धीरे यह अलगाव वित्तीय अल्पतंत्र के वर्चस्व की ओर बढ़ता है और पूरी व्यवस्था को परजीवी बनाता जाता है। सूदखोरी से, कूपन काट कर और वित्तीय हेराफेरी से मुनाफा कमाने वालों की बन आती है। परंतु यह सब पूंजीवाद में एक प्रवृति के तौर पर काम करता है जिसका कतई यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि अब आगे से औद्योगिक विकास होगा ही नहीं। पूंजी को उत्पादन और व्यापार से **पूरी तरह** अलग कर देने का कोई अर्थ नहीं है। पूंजी का उत्पादन और व्यापार से पूरी तरह अथवा निरपेक्ष रूप से अलग हो जाना स्वयं इस प्रवृति का अंत होगा जो सही नहीं है। इसीलिए यह सवाल यहां उठाना लाजिमी है कि क्या अब इस सूदखोर पूंजी के अलावा समाज में और कोई दूसरी पूंजी क्रियाशील नहीं है? लेनिन लिखते हैं कि वित्त पूंजी की अन्य सभी दूसरी पूंजियों पर प्रधानता हो जाती है, **न कि** यह कि अन्य सभी पूंजिया समाज से तिरोहित हो जाती हैं। लेनिन लिखते हैं -

''पूंजी के स्वामित्व को उत्पादन में पूंजी लगाने से अलग कर दिया जाता है, मुद्रा-पूंजी को औद्योगिक या उत्पादनशील पूंजी से अलग कर दिया जाता है और मुद्रा पूंजी से प्राप्त होने वाली आय पर ही पूर्णत: जीवित रहने वाले सूदखोरों को व्यवसायियों तथा उन तमाम लोगों से अलग कर दिया जाता है, जिनका पूंजी की व्यवस्था में प्रत्यक्ष हाथ होता है। साम्राज्यवाद, अर्थात वित्त पूंजी का प्रभुत्व, पूंजीवाद की वह चरम अवस्था है, जहां पहुंचकर यह अलगाव बहुत व्यापक रूप धारण कर लेता है। पूंजी के अन्य सभी रूपों पर वित्त पूंजी की प्रभुता का अर्थ सूदखोरों और वित्तीय अल्पतंत्र की **प्रधानता** होती है।'' (साम्राज्यवाद; पूंजीवाद की चरम अवस्था, पेज-272, बोल्ड हमारा)

आज अगर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यापार का माल और सेवा व्यापार से प्रत्यक्ष संबंध कमजोर हुआ है, दोनों के बीच अलगाव बढ़ा है, तो इसे साम्राज्यवाद के दौर के पूंजीवाद की आम विशेषता के रूप में, उसकी एक प्रवृति के रूप में देखना चाहिए जिसने आज की वर्तमान साम्राज्यवाद की अवस्था में और भी व्यापक रूप धारण कर लिया है। साम्राज्यवाद की 'नवीनतम अवस्था' की खास विशेषताओं अर्थात पूंजी के स्वामित्व के अलगाव की वर्तमान मंजिल में नयी वित्तीय पूंजी की खास विशेषताओं को अगर हम अलग से चिन्हित करना ही चाहते हैं, तो हम कह सकते हैं कि पहले **जहां** इस अलगाव के केंद्र में बैंक थे, बैंको के विभिन्न उपकरण थे (अर्थात औद्योगिक पूंजी में उस भाग का अनुपात ज्यादा था जिसका उपयोग एकमात्र बैंकों और उसके उपकरणों के माध्यम से ही कोई उद्योगपति कर सकता था), **वहीं** आज यह अलगाव और भी व्यापक होकर बैंको के नियंत्रण से भी **आगे** निकल गया है। आज इसके केंद्र में विशालकाय दैत्याकार अंतर्राष्ट्रीय फंड मैनेजर तथा निवेश बैंक हैं। अब सिर्फ उद्योगपति ही नहीं, स्वयं दुनिया के बड़े-बड़े बैंक इस पूंजी का उपयोग करते हैं। उद्योगपति आज ज्यादातर इनके माध्यम से ही इस पूंजी का उद्योगों में उपयोग कर सकते हैं। उपकरण भी भिन्न हो गये हैं। बात शेयर, प्रतिभूति और बान्ड से आगे बढ़ते हुए वित्तीय डेराईवेटिव्स, अंतर्राष्ट्रीय बान्ड, स्टॉक फंड जैसे सैंकड़ों तरह के फंडों और धंधों तक आ पहुंची है। आज विभिन्न फंडों की विशाल मुद्रा-पूंजी बैंकों से स्वतंत्र भी है और स्वतंत्र नहीं भी हैं। इनके तमाम तरह के आर्थिक व राजनीतिक संबंधों पर शोध कार्य किया जाना बाकी है जो समय के साथ ही संभव है। आज इसके बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि यह बैंक पूंजी जैसी ही एक ऐसी विशालकाय मुद्रा-पूंजी है जिसकी मात्रा लगातार बढ़ती जा रही है, जिसका उपयोग स्वयं साम्राज्यवादी बैंक भी उद्योगपतियों और सरकार आदि को कर्ज देने के लिए करने लगे हैं, जो स्टॉक एक्सचेंज के माध्यम से, शेयरों, डेराईवेटिव्स और अतिक्लिष्ट (परंतु हवा हवाई) वित्तीय उपकरणों का उपयोग करते हुए उद्योगों और परियोजनाओं में दीर्घकालिक या अंशकालिक तौर पर (क्षण में उड़न छू होने वाली गरम वाष्पशील मुद्रा-पूंजी के तौर पर भी) लगायी जा रही है, और इस तरह जो पहले की तुलना में (लेनिन के जमाने की तुलना में) ज्यादा से ज्यादा घुमावदार और अनिश्चित रास्तों से होते हुए औद्योगिक पूंजी में तब्दील में हो रही है, तथा अपने नियंत्रकों की जेबों में अकूत मुनाफा भरती चली जा रही है, याने, स्वयं मोटी से और मोटी होती जा रही है। जिस तरह लेनिन के जमाने में ''इजारेदाराना पूंजीवादी कारोबारी गतिविधियों'' ने वित्तीय अल्पतंत्र को जन्म दिया था (ज्यादा सही कहें तो, स्वयं इजारेदाराना पूंजीवादी कारोबारी गतिविधियों ने ही वित्तीय अल्पतंत्र का रूप धारण कर लिया था), ठीक उसी तरह बैंकों के नियंत्रण वाली वित्तीय अल्पतंत्र की इजारेदाराना वित्तीय कारोबारी गतिविधियों ने ही आज वित्तीय अल्पतंत्र का वर्तमान अंतरराष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है। हर तरह से, हर हाल में, पूंजी के स्वामित्व के अलगाव का यह रूप असाधारण स्वरूप का है, परंतु यही अंतिम रूप कदापि नहीं है। संकेंद्रण और केंद्रीकरण की प्रवृति इन्हें अलगाव के और भी असाधारण रूपों की ओर धकेल सकती है, धकेल रही है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जहां तक इसके अंतर्य की बात है, अंतत: इस वित्तीय पूंजी के एक छोटे या बड़े अंश को औद्योगिक पूंजी में बदलना ही पड़ता है। यह चाहे जितने भी घुमावदार रास्तों से ही क्यों न हो, चाहे स्वयं इसकी अपनी मृत्यु का भय (अर्थात विश्वपूंजीवादी व्यवस्था के ध्वस्त हो जाने का भय) ही इसका कारण क्यों न हो, परंतु ऐसा होना जरूरी है। कम से कम, आंकड़े तो यही बता रहे हैं। यह भी सच है कि मुद्रा-पूंजी के रूप में औद्योगिक पूंजी का स्वयं उद्योगपतियों से यह अलगाव जितना ही अधिक बढ़ेगा, जितने ही घुमावदार रास्तों से होकर यह वित्तीय पूंजी औद्योगिक पूंजी में तब्दील होगी, यह उतना ही मुनाफा कमाकर मोटी होगी, उतना ही अधिक यह उद्योगों और अर्थव्यवस्थाओं को अपनी मर्जी से नचायेगी और उन्हें जोखिम में डालेगी तथा पूरे समाज को आर्थिक-सामाजिक, सांस्कृतिक पतन व पश्चगमन के दलदल में ले जाएगी। इसकी हर वृद्धि, इसकी प्रगति का प्रत्येक पग समाज की औद्योगिक गतिविधियों को बड़े से बड़े जोखिम में डाल देती है और जोखिम में डाल रही है। हम इसे रोज देख रहे हैं। उन्हें (अर्थव्यवस्थाओं को) जितनी गति से यह तेज और गर्म कर सकती है, उतनी ही तेज गति से उस पर ब्रेक भी लगा सकती है, उन्हें ठंढा कर सकती है। यही इस वित्तीय अल्पतंत्र का 'द्वंद्वात्मक' चरित्र है। इसके अपेक्षाकृत पूर्ण वर्चस्व पर आधारित पूंजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था की यही अंतर्भूत बाधा है। यही इसका कभी न दूर होने वाला संकट है, इसका क्षय रोग है। पूंजीवाद के जन्म के समय से क्षय रोग मौजूद है और इस नयी वित्तीय पूंजी के जन्म के साथ यह भयानक कैंसर में बदल गया है।

परंतु, जरा ठहरिये ! इस हाल में भी अगर यह वित्तीय अल्पतंत्र और विश्वपूंजीवाद जिंदा है और जिंदा रह सकता है, तो इसका एक कारण यह है कि समाज में विकास को कुछ आगे बढ़ाने की चेष्टा यह अब भी कर सकती है और ऐसा यह तब तक करती रहेगी जब तक कि इसकी जगह लेने वाली और इसके क्षय रोग को हमेशा के लिए मिटा देने वाली दूसरी व्यवस्था (जिसकी भौतिक परिस्थितियां आज पूरी तरह परिपक्व हो गई हैं) इसका उर्ध्वपातित निषेघ करते हुए अपना ऐतिहासिक स्थान ग्रहण नहीं कर लेती है। और, जिंदा रहने की वित्तीय अल्पतंत्र की ऐसी चेष्टा सिर्फ इस बात में ही

निहित है कि उसे हर हाल में औद्योगिक कार्यवाहियों अर्थात वास्तविक उत्पादन और व्यापार को आगे बढ़ाने और वास्तविक विकास कराने की चेष्टा करनी पड़ती है, बावजूद इसके कि प्रत्येक बीते दिन के बाद इसकी ऐसी चेष्टा यह क्षमता घटती जा रही है, क्षणभंगुर और अल्पजीवी बनती जा रही है। जो भी हो, समझने वाली बात यह है कि एकमात्र मृत्यु और पूंजीवाद के संपूर्ण नाश के भय से ही सही, परंतु यह सूदखोर पूंजी अंततः औद्योगिक गतिविधियों और व्यापार की तरफ लौटती जरूर है। इसे लौटना पड़ता है। जब यह लौटती है तो इसके मुनाफे की हवस अब और कई गुणा बढ़ जाती है। फिर यह मुनाफा की हवस में इन सबको, पूरी व्यवस्था को, संकट में डालती है और फिर वही चक्र ..... वही सब प्रक्रिया शुरू होती है। इस द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का अंत स्वयं इस वित्तीय अल्पतंत्र और विश्वपूंजीवादी व्यवस्था का अंत है, इसका निषेध है। याने, विश्व पूंजीवादी व्यवस्था की इस मानवद्रोही स्थिति का अंत ही इस प्रक्रिया का अंत है। और यह तभी संभव है जब जब मजदूर वर्ग स्वयं आगे बढ़कर इतिहास के रंगमंच से इसे बाहर धकेलेगा और समाजवाद के द्वारा इसे प्रतिस्थापित करेगा।

एक और बात भी हमें याद रखनी चाहिए। विश्व पूंजीवाद के बने रहने की स्थिति में इस वित्तीय पूंजी का साम्राज्य कल और भी अधिक सर्वव्यापी बन जाएगा तथा अन्य पूंजियों की तुलना में यह एकमात्र पूंजी होने का आभास देगी, परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाया जाना चाहिए कि मुद्रा-पूंजी (इस नये तरह की वित्त पूंजी) के अलावा अब किसी और पूंजी का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। बात बस इतनी है कि एकाधिकारी पूंजीवाद की आगे और भी अधिक विस्तारित अवस्था (रूप) में इस वित्तीय पूंजी की पूंजी के अन्य सभी दूसरे रूपों पर और भी ज्यादा प्रधानता कायम हो जाएगी, जैसा कि आजकल दिखाई दे रहा है। लेनिन के उद्धरण में यह बात स्पष्ट रूप से आयी है।

इसी तरह, आज के वित्तीय प्रवाह में दीर्घकालिक उत्पादक निवेश कम हुआ है, परंतु , इसे भी प्रवृति के तौर पर ही देखना चाहिए। जिस तरह विश्वपूंजीवाद के उपर्युक्त संकट की बात का अर्थ इसमें विकास या कभी-कभी तीव्र विकास की संभावना से इनकार या **पूर्ण** इनकार नहीं होता है और न ही हो सकता है, इसी तरह यह भी नहीं समझना चाहिए कि अंतर्राष्ट्रीय माल और सेवा व्यापार का विकास या दीर्घकालिक निवेश अब होगा ही नहीं या नहीं हो रहा है। सच तो यह है कि इसमें कभी-कभी उछाल भरा विकास हो सकता है। इस सच्चाई को आंकड़े भी बताते हैं। 1990 में विकासशील देशों में होने वाले कुल वित्तीय प्रवाह में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का हिस्सा 12 प्रतिशत था, तो 1995 में यह बढ़कर 38 प्रतिशत हो गया। पोर्टफोलियो निवेश (जिसे अर्थशास्त्री पल में उड़ जाने वाली 'गर्म मुद्रा' कहते हैं) पर भी निगाह दौड़ायें तो यह पता चलता है कि इसमें हुई आशातीत वृद्धि के पीछे जारी किये बांडों (Bond Issuance) का हिस्सा काफी अधिक रहा है। 1990 में यह 17 बिलियन डॉलर था तो 1995 में यह 46 बिलियन डॉलर हो गया। बांडों के माध्यम से होने वाले वित्तीय प्रवाह का निवेश करने वालों में अंतर्जातीय निगम (TNCs), विश्व बैंक, विभिन्न देशों की सरकारें आदि रही हैं जो दीर्घकालिक परियोजनाओं में निवेश करते रहे हैं। (source; Kavaljit Singh's A Citizns Guide To The globalisation Of Finance) यह विकासशील देशों में पूंजीगत विकास को भी दिखाता है।

इसलिए, यह मानना मुश्किल है कि नयी अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी शत-प्रतिशत उड़न छू होने वाली गर्म मुद्रा है। नयी अंतर्राष्ट्रीय पूंजी के गुप्त और खुले क्रिया कलापों से उचित निष्कर्ष निकालने की जरूरत है। मसलन, यूरो डॉलर बाजार की विलक्षण घटना से जो नयी अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी प्रकट हुई है, उससे से जो असली चीज दिखाई दे रही है और जो सर्वाधिक महत्व वाली बात प्रकट हो रही है वह यह है कि - पूंजीवादी एकाधिकारी इजारेदारियां अविश्वसनीय हद तक विकसित हो चुकी हैं जिसके कारण विश्वपूंजीपादी अर्थव्यवस्था अंदर ही अंदर और भी तेजी से सड़ने लगी है। **दूसरे,** इससे यह बात भी साफ-साफ प्रकट हो रही है कि इस नयी वित्तीय पूंजी के तथाकथित एकजुट साम्राज्य में चल रही उठापटक और संघर्षों के असली उद्देश्य ठीक वहीं हैं जिनके बारे में लेनिन हमें पहले ही बता चुके हैं। आज वास्तव में इसे समझने की आवश्यकता प्रकट हो रही है कि ये सब क्या हैं और समाज के क्रांतिकारी बदलाव की दृष्टि से इन सबका विश्व ऐतिहासिक व भौतिक-आर्थिक महत्व क्या है। ठीक यहीं पर प्रभात पटनायक कुछ ऐसी बातें कहते हैं जिसका लेनिनीय समझदारी से संगति बैठाना मुश्किल है। आगे हम इस पर चर्चा करेंगे।

(iv)

प्रभात पटनायक वित्तीय पूंजी के वर्तमान दैत्याकार बाह्य रूप और बनाबट को सामने रखते हैं और फिर इससे निष्कर्ष निकालते हैं कि यह लेनिन के जमाने से भिन्न चरित्र का है। दूसरी तरफ, हम लेनिन की थेसिस में यह पाते हैं कि वित्तीय पूंजी के बीच के आपसी संघर्ष के रूपों में, वित्तीय पूंजीं की काया (बाह्य रूपों) में, आकार में, बनावट में, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इनके समामेलनों (mergers) के आकार और स्वरूप में, और स्वयं इसके स्वामित्व आदि के रूपों में विशिष्ट व अस्थायी कारणों की वजह से निरंतर बदलाव आ सकते हैं। परंतु, जहां तक इसके सारतत्व या अंतर्य की बात है, तो यह हरगिज नहीं बदल सकता है। वह अंतर्य है - वित्तीय पूंजी के अल्पतंत्र के द्वारा दुनिया का साम्राज्यवादी बंटबारा, जिसे कभी 'स्थायी' गठबंधनों के द्वारा बढ़ाया जाता है, तो कभी अस्थायी आपसी समझौतों के जरिये, परंतु, जो अंततः प्रतिस्पर्धी साम्राज्यवादी गुटों के बीच हिंसक टकरावों को अवश्य ही जन्म देता है। अगर वित्तीय पूंजी का संकेंद्रण और केंद्रीकरण आज यूरो डॉलर की सीढ़ियां चढ़ते हुए उन ऊंचाईयों पर पहुंच गया है,

जिसके बारे में पटनायक बार-बार और जोर-शोर से इशारा कर रहे हैं, तो यह लेनिन द्वारा वर्णित साम्राज्यवादी प्रवृतियों को ही बखूबी दिखा रहा है। वे चाहे इसे बुनियादी तौर पर जितना भी नया कह लें, इस नये अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय अल्पतंत्र में 1997 से जो कुछ दिखाई दे रहा है वह लेनिन के विचारों को पूरी तरह पुष्ट कर रहा है, न कि इसके विपरीत। वे जहां इसे एकजुट वित्तीय पूजी कह रहे हैं वहीं हम इनके बीच प्रतिस्पर्धा देखते हैं। इनके साम्राज्य के अंदर के बड़े-बड़े शार्कों के बीच होने वाले समामेलन और अधिग्रहण इनके बीच के लगातार कटु होते जा रही प्रतिस्पर्धा को ही दर्शा रहे हैं, जिसके बारे में लेनिन का थेसिस मूल रूप से जोर देता है, याने, **दुनिया के आर्थिक बंटबारे के लिए एकाधिकारियों के बीच होड़।** इसके बारे में हम आगे तथ्यों के साथ बात करेंगे। फिलहाल और चलते-चलते, हमारे लिए इस तरफ इशारा करना जरूरी है कि भूमंडलीकरण **सिर्फ** वित्तीय पूंजी का नहीं हुआ है, जैसा कि दावा किया जा रहा है (प्रभात पटनायक के विचार भी इसी ओर इंगित हैं), अपितु आज उत्पादन और व्यापार का भी विशाल स्तर पर भूमंडलीकरण हुआ है। आज मुद्रा-व्यापार के अतिरिक्त विदेशी वित्तीय प्रवाह में नये कारकों जैसे बान्ड्स (bonds) और वित्तीय डेराईवेटिव्स (finnacial derivavtives) आदि नये औजारों, जिनके तार निश्चित तौर पर यूरो डॉलर बाजार से भी जुड़े हैं, के प्रकट हो जाने की **शोर** इतनी अधिक है कि कुछ लोग इस भूमंडलीकरण को महज वित्तीय भूमंडलीकरण समझने की भूल कर बैठते हैं। आंकड़ें बताते हैं कि इस भूमंडलीकरण की मुख्य विशेषताओं में जो चीजे शामिल हैं, उनमें अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय लेन-देन में हुई तीव्र वृद्धि से लेकर अंतरजातीय निगमों (TNCs) के बीच व्यापार, भूमंडलीकृत बाजार, अंतरजातीय निगमों के द्वारा विदेशी प्रत्यक्ष निवेश, संचार माध्यमों आदि में तीव्र विकास जैसी चीजें शामिल रही हैं। **दरअसल** हुआ यह है कि यूरो डॉलर बाजार के विस्तारीकरण का एक चक्र पूरा होते-होते वित्तीय भूमंडलीकरण का महत्व **अन्यों की तुलना में** तेजी से बढ़ गया है। **परंतु** , इसे एकतरफा रूप से नहीं समझना चाहिए। आंकड़े बताते हैं कि '80 और '90 के दशक में, उत्पादन का भूमंडलीकरण भी काफी तेजी से हुआ जिसके पीछे अंतरजातीय निगम मुख्य रूप से रहे हैं। सरंचनात्मक समायोजन कार्यक्रम, गैट, विश्व व्यापार संगठन इत्यादि इसी को आगे बढ़ाने के औजार थे और हैं, जिनके बारे में इस लेख में चर्चा करना संभव नहीं है।

(v)

यहां तक आते-आते यह स्पष्ट हो चला है कि संदर्भित विषय में हमारा विमर्श यूरो डॉलर के जन्म और विशेषत: आज तक की उसकी यात्रा वृतांत पर उचित मात्रा में प्रकाश डालने की मांग कर रहा है। जैसा कि हम जानते हैं, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वैश्विक वित्तीय प्रवाह के 'संयमित' नियमन और नियंत्रण की आवश्यकता के मद्देनजर नियत विनिमय दर (fixed exchanged rates) वाली ब्रेटेन वुड्स पद्धति लागू की गई। इसके फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वित्तीय प्रवाह आशानुरूप काफी हद तक नियंत्रित तरीके से हो रहा था। एक देश के निवेशकर्ता के लिए किसी दूसरे देश के शेयर मार्केट में खरीदारी करने पर रोक थी। दूसरे शब्दों में, निजी वित्तीय प्रवाह बहुत हद तक नियंत्रण में था। विकासशील देशों को वित्तीय पूंजी सरकारी (आधिकारिक) तौर पर सम्पन्न होने वाले द्विपक्षीय, त्रिपक्षीय या बहुपक्षीय समझौतों के माध्यम से ही उपलब्ध होती थी। निजी व्यापारिक बैंकों और शेयरों के जरिये निवेश की मात्रा **लगभग** नगण्य थी। लेकिन पचास के दशक में एक विलक्षण घटना का श्रीगणेश हुआ। ऐसे बैंक अस्तित्व में आये अर्थात एक ऐसा वित्तीय बाजार (जाहिर है जिसको अमेरिकी एकाधिकारपतियों व साम्राज्यवादियों का वरदान प्राप्त था) अस्तित्व में आया, जहां किसी देश का कोई बैंक दूसरे देश की मुद्रा में मुद्रा-पूंजी जमा ले सकता था और कर्ज भी दे सकता था। इसे ही यूरो बाजार कहा गया। ऐसा देखा गया कि साम्राज्यवादियों का समर्थन प्राप्त होने के फलस्वरूप इस पूंजी बाजार ने 'स्वतंत्रतापूर्वक' अपनी गतिविधियों (शुरू में गुप्त बाद में खुली) को अंजाम दिया। बाद में इसकी ताकत और 'स्वतंत्र' गतिविधियों में हुए और इजाफा से ऐसा महसूस होने लगा मानो इस पर किसी राज्य का नियंत्रण ही नहीं हो। **दरअसल** वित्तीय पूंजी अपने रूप, अपनी काया और प्रभाव क्षेत्र में विकास की एक नयी अवस्था, एक और नयी मंजिल में पहुंच रही थी जिसके समक्ष वित्तीय नियंत्रण की पुरानी ब्रेटेन वुड्स पद्धति कालातीत होने के लिए विवश थी। मजे की बात यह है कि स्वयं ब्रेटेन वुड्स पद्धति ने अपने को कालातीत बना लिया। **नयी परिस्थितियों** में इस 'नयी' पूंजी के समक्ष इसे नतमस्तक होना ही था। वित्तीय पूंजी के हितों को ही आगे बढ़ाने वाली ब्रेटेन वुड्स पद्धति और ब्रेटेन वुड्स (साम्राज्यवादी) संस्थाओं (जैसे बर्ल्ड बैंक और आई.एम.एफ.) ने अगर उच्चतर प्रभाव और नयी अंतरराष्ट्रीय काया वाली वित्तीय पूंजी के आगे बढ़ने के रास्ते से हट गई, तो यह कोई आश्चर्य की बात नही है।

यह यूरो डॉलर बाजार मूलत: यूरोप और अमेरिका में आगे बढ़ा। इसमें जमा मुद्रा-पूंजी 'अपने वतन' में प्रचलित मूल नाम के साथ यूरो जोड़कर अपना नया नाम प्राप्त करती है। जैसे कि इन बैंकों में जमा अमेरिकी डॉलर को यूरो डॉलर कहा गया। ऐसे बैंकों में जमा ऐसी पूंजी चुपचाप पड़े रह कर ब्याज कमा सकती है या फिर निवेश और व्यापारिक पार्टनरों के बीच लेन-देन तथा कर्ज देने के काम आ सकती है। 1970 के दशक में अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की विदेशी गतिविधियों में आयी तेजी से यह बाजार खुब फला-फूला। पूरे विश्व में होने वाली काली कमाई और काले धन ने इसी

बाजार में अपने लिए **सुरक्षित** ठौर प्राप्त किया। इसी दशक में तेल कीमतों में आये भारी अप्रत्याशित उछाल से प्राप्त धन राशियां भी डॉलर के रूप में इन्हीं बैंकों में जमा हुईं। प्रकारांतर में, बर्ल्ड बैंक और आई.एम.एफ. जैसी साम्राज्यवादी वित्तीय संस्थायें इस पूंजी के दारोगा बन बैठीं। इनके द्वारा इसके ''पुररुपयोग'' की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया गया। धीरे-धीरे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर घटने वाली अन्य घटनाओं और विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों, और इनके कारण उत्पन्न होने वाली नयी वित्तीय आवश्यकताओं, संकटों और टकरावों के मध्य गुजरते हुए वित्तीय पूंजी का यह नया अवतार अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रभुत्व की स्थिति में पहुंच गया। कहने का **तात्पर्य** यह है कि स्वयं विश्वपूंजीवादी व्यवस्था की नयी आवश्यकताओं ने इस वित्तीय पूंजी के वर्तमान स्वरूप को जन्म दिया है और संभव बनाया है।

1970 के दशक में जब विकासशील देशों ने बर्ल्ड बैंक और आई.एम.एफ. से बड़े पैमाने पर कर्ज लिये (विकास के साथ-साथ सरकारी खजाने की लूट के लिए), तो उनमें वित्तीय पूंजी के इस नये अवतार का हिस्सा ही अधिक था। बाजार दरों पर सूद की अदायगी से परेशान ये देश जब इन कर्जों की वापसी या सूद की अदायगी में विफल हो गये तो, इन बैंकों का दिवाला निकलने लगा। **तभी** हम पाते हैं कि साम्राज्यवादी देशों ने इस नयी पूंजी को अपनी गोद में बैठा लिया और उन नीतियों को विकासशील देशों पर लादना शुरू किया जिससे इन बैंकों की पूंजी पूर्व के बाजार दरों (जिन पर ये कर्ज दिये गये थे) पर ऊंचे ब्याज-लाभ के साथ इन्हें वापस लौट सके। विकासशील देशों की वित्तीय जरूरतों की पूर्ति के साथ यह शर्त भी नत्थी कर दी गयी कि कर्ज उन्हें तभी मिलेगा जब वे इन नयी नीतियों को अपनी अर्थव्यवस्था में लागू करने के लिए राजी होंगे। इस आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु साम्राज्यवादियों ने गैरआर्थिक दबाव भी डाले। इन नीतियों के सार को हम नवउदारवाद या इसके असली नाम संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम (Structural Adjustment Programme) के नाम से जानते हैं। इस नीति के केंद्र में था - विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था को निजी (private) वित्तीय पूंजी के प्रवाह और उसके द्वारा की जाने वाली लूट के लिए खोलना। जाहिर है, इसमें यूरो डॉलर बाजार और 'नयी' पूंजी का प्रभुत्व था और है। उन्हें हर प्रकार की छूट मिली - बेरोकटोक आवाजाही की छूट, विश्व के तमाम स्टॉक एक्सचेंजों में विचरण की छूट, निजी वित्तीय कोराबार के हजारों कानूनी और गैरकानूनी, खुले या छद्म, तरीकों का इस्तेमाल करने की छूट। इनके मुनाफे को सुनिश्चित करने के लिए मजदूरों के तमाम हितों, तमाम 'मजदूरपक्षीय' कानूनों को ढीला या खत्म किया जाने लगा। मजदूरों और गरीबों की जुबान पर ताला जड़ने की कोशिश की गयी। राज्य के बारे में कहा गया कि वह इन नयी वित्तीय पूंजी के हितों के रास्ते से हट जाये। वह बाजार में कोई हस्तक्षेप न करे। और हम देखते हैं कि ऐसा ही हुआ। पिछले ढाई दशक की कहानी इनकी ही लूट की कहानी है। हम यह जरूर देख रहे हैं कि यूरो डॉलर के रूप में यह 'नयी' वित्तीय पूंजी इस मामले में नयी है कि इसमें बहुत सारे देशों की वित्तीय पूंजियां शामिल हैं। लेकिन यूरो डॉलर की प्रक्रिया को 1970 के दशक की दृष्टि से और उस जमाने के पुराने चश्में से देखेंगे तो निश्चय ही हम भारी भूल करेंगे। इस बीच इस नयी वित्तीय पूंजी के स्वरूप में काफी और व्यापक बदलाव आये हैं। आज इसके मुख्य चालक संस्थागत निवेशक (फंड मैनेजर आदि) बन गये हैं जो कल नहीं थे। हमें इनकी गतिविधियों का महीनी से अध्ययन करना चाहिए और आनन-फानन में इनके क्रियाकलापों के बारे में मनगढ़ंत बातें नहीं करनी चाहिए।

पटनायक इसी वित्तीय पूंजी के हवाले से यह कहना चाहते हैं कि यह पूंजी राष्ट्र-राज्यविहीन है, क्योंकि इसमें 'सभी' देशों की वित्तीय पूंजियां शामिल है। ऐसा कहते हुए वे नयी बहस की शुरूआत करते हैं। वे कहते हैं कि इसका अंतरराष्ट्रीय चरित्र इस अर्थ में है कि 'यह दुनिया भर से वित्तीय पूंजी को चूस सकती है और दुनिया में कहीं भी निवेश कर सकती है।' इसी को आधार बनाकर वे आगे कहते हैं - 'वित्तीय पूंजी के अनेकानेक प्रतिस्पर्धी गुटों के बजाय, हमारा सामना एक विशालकाय सत्ता से हो रहा है, और अलग-अलग देशों की वित्तीय पूंजियां उसमें अनेकानेक घटक के रूप में समाहित हैं। यह कहने का अर्थ यह नहीं है कि विकसित पूंजीवादी केंद्रों के वित्त का प्रभुत्व नहीं है, यह भूमिका इस एकजूट सत्ता पर प्रभुत्व के जरिये ही अदा की जाती है।'' (साम्राज्यवाद : नया और पुराना, लोक प्रकाशन गृह, पेज-27)

इसमें श्री पटनायक **पहली** बात यह कहना चाहते हैं कि आज की वित्त पूंजी मूलत: अंतरराष्ट्रीय चरित्र की है जो कहीं से भी पूंजी चूस सकती है और इसे कहीं भी लगाया जा सकता है। इसकी आज की मात्रा, आकार तथा कार्य करने की बाह्य तौर पर नयी प्रणाली (तकनीकी मामले) को छोड़ दें, तो इसमें कि वित्तीय पूंजी कहीं भी लगायी जा सकती है कोई नई बात नहीं है। साम्राज्यवाद के जमाने में पूंजी-निर्यात ही मूख्य बात होती है (और यही माल निर्यात का सबसे कारगर साधन बन जाता है)। जब से वित्तीय अल्पतंत्र का जन्म हुआ है, तब से यही होता रहा है। प्रत्यक्ष उपनिवेशवाद के जमाने में स्वयं उपनिवेश वित्तीय प्रवाह के लिए एक स्वभाविक, एक ढंग का प्राकृतिक रास्ता (natural channel) थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद इसकी कार्यप्रणाली बदल गयी। तब द्विपक्षीय, त्रिपक्षीय और बहुपक्षीय समझौतों के जरिये (ब्रेटेन वुड्स पद्धति के अनुसार) वित्तीय प्रवाह को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जारी और कायम रखा गया। यूरो डॉलर बाजार के प्रादुर्भाव के बाद इसकी कार्यप्रणाली में कुछ और व्यापक परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों के पीछे खड़े हैं संस्थागत निवेशक (institutional investors, mutual fund, pensions fund) और इसी तरह की पूरी दुनिया में फैले सैंकड़ों-हजारों फंड संस्थायें, जिनमें 'पूरी' दुनिया की पूंजी लगी हुई है) जो धीरे-धीरे सभी पुरानी कार्यप्रणालियों को स्थानांतरित करती जा रही हैं। इसमें तो आश्चर्य की कोई बात ही नहीं है कि वित्तीय पूंजी कहीं भी लगायी जाती रही है। **बल्कि** वित्तीय पूंजी कहीं भी लगाये जाये बिना

जिंदा ही नहीं रह सकती है। यह अपनी मातृभूमि को छोड़े बिना सुपरमुनाफा कैसे कमा सकती है?

जहां तक वित्तीय पूंजी के इस नये अवतार के बीच **एकता** का प्रश्न है, तो इन पूंजियों के मुनाफाखोर फंडों की कार्यप्रणाली को देखने पर पता चलता है कि इनके बीच गलाकाटु प्रतिस्पर्धा है और समय के साथ अधिग्रहण, टेकऑभर, गठबंधन और इस बल पर दुनिया का आर्थिक (व राजनीतिक) बंटबारा इनकी दुनिया का भी **मूलमंत्र** बनता जा रहा है। आगे हमने इस पर चर्चा की है। कारण? कोई व्यक्तिगत इच्छा? नहीं, बिल्कुल नहीं। बस इस वित्तीय भूमंडलीकरण के क्षेत्र में हासिल किये गये संकेंद्रण और केंद्रीकरण ही वे कारण हैं, जो उन्हें अधिकतम मुनाफा सुनिश्चित करने के इस रास्ते पर (अधिग्रहण, टेकऑभर, गठबंधन आदि के रास्ते पर) धकेल दे रहे हैं। नित्य नये-नये अस्तित्वमान हो रहे वित्तीय उपकरण, जैसे - वित्तीय डेराईवेटिव्स, अंतर्राष्ट्रीय बान्ड्स आदि इन वित्तीय पूंजियों के दुनिया के आर्थिक बंटबारे के उपकरण हैं जिसके माध्यम से बिना समय गंवाये, एक बटन दबाकर, दुनिया के किसी भी स्टॉक एक्सचेंज में समाज के किसी भी मूल अंतर्निहित पूंजी (underlying asset) का बाजार में मौजूद कीमत के आधार पर सौदा किया जा सकता है। यह वित्तीय पूंजी के **रूप में** नया परिवर्तन ही है कि शेयरों की खरीद-बिक्री के द्वारा **भविष्य की खरीदारी** करके (future purchasing) दुनिया के बंटबारे को अंजाम दिया जा सकता है और साथ ही उससे तत्काल ही अकूत मुनाफा कमाया जा सकता है। और ऐसा करने का रास्ता एक बार फिर ''पूंजी के अनुपात'' में, ''शक्ति के संतुलन'' के अनुपात में ही हो सकता है। इसीलिए हमारे लिए यह अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है कि इस नयी अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के घटकों के बीच कुछ **ऐसे संबंध** कायम हो चुके होंगे या हो चुके हैं, जो निश्चिय ही दुनिया के आर्थिक बंटबारे पर आधारित हैं। और तब इनके साथ-साथ और इनके सिलसिले में राजनीतिक रूप से राष्ट्र-राज्यों के बीच भी कुछ ऐसे संबंध पैदा होंगे, जिसके लक्षण प्रकट हो चुके हैं, जिनका आधार भी वही होगा - दुनिया का बंटबारा, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्र में वर्चस्व के लिए संघष आदि।

ऐसे संबंध पैदा हो चुके हैं। इसके उदाहरण भ्रूण रूप में ही सही, लेकिन मौजूद हैं। उदाहरण के लिए, मेक्सिको संकट को पैदा करने में जिन मुख्य फंड निवेशकों का हाथ था, उनमें सबसे प्रमुख अमेरिकी fidelity investment था जिसने peso (Mexican currency) treasury bills की भारी मात्रा में खरीदारी की थी। इन सबको आगे बढ़ाने में और साथ ही मेक्सिको में निजीकरण प्रक्रिया की देखरेख करने में अमेरिकी साम्राज्यवादी हित और अमेरिका स्थित फंड मैनेजरों व संस्थागत निवेशकों के भारी आर्थिक हित जुड़े हुए थे। यही कारण है कि अमेरिका स्वयं मेक्सिको को इस संकट से उबारने में सबसे आगे था। और जब मेक्सिको को 50 विलियन डॉलर की सहायता राशि दी गयी, तो उसमें G-7 के देश और आई.एम.एफ का पैसा भी शामिल था, परंतु, इस सहायता के बदले मेक्सिको के द्वारा 'दान' दी गयी ''भविष्य तेल-निर्यात आय'' (Future Oil Export Income) की अधिकांश राशि अमेरिकी फंडों को ही मिली। जिन दूसरे फंडों को लूट के मुनाफा में टरकाया गया, उनमें से प्रमुख थे - एक स्वीस फंड 'Allianze और दूसरा, एक जर्मन फंड Trust company of the West था। कहने का तात्पर्य यह है कि इन फंडों के बीच भी गलाकाटु प्रतिस्पर्धा है और इसमें राष्ट्र-राज्य की ताकत का भरपूर इस्तेमाल किया जाता है और किया जा रहा है जैसा कि उपर के वर्णन से स्पष्ट है।

पटनायक आगे कहते हैं - ''दूसरी बात यह है कि वित्तीय पूंजी **लेनिन के जमाने से भिन्न**, कोई साम्राज्यवाद की आपसी **प्रतिद्वंद्विता के संदर्भ में सक्रिय नहीं है** बल्कि साम्राज्यवादी ताकतों के कहीं **ज्यादा एकजुट** होकर काम करने की पृष्ठभूमि में काम कर रही है। तीसरी बात यह है कि समकालीन वित्तीय पूंजी ''बैंकों के द्वारा नियंत्रित पूंजी और **उद्यमियों के द्वार लगाायी जाने वाली पूंजी'' नहीं है** जैसा कि लेनिन ने कहा था। यह किसी खास साम्राज्यवादी देश में ''बैंक और औद्योगिक पूंजी का परस्पर जुड़ना'' भी नहीं है। इसके विपरीत, वैश्वीकृत वित्त दुनिया भर से खिंचकर आता है और रातों-रात मुनाफे की, और अक्सर सट्टाबाजाराना गतिविधियों में ऐसे मुनाफे की तलाश में रहता है। संक्षेप में, इस वित्तीय पूंजी का काफी हिस्सा ''आवारा पूंजी'' के प्रवाहों के रूप में काम करता है।'' (वही, बोल्ड हमारा)

पटनायक द्वारा उपर कही गयी बात - साम्राज्यवादी ताकतों के कहीं ज्यादा एकजुट होकर काम करने की पृष्ठभूमि - तथ्यों की रौशनी में सही नहीं ठहरती है। **मसलन,** हमारे सामने प्रश्न यह है कि सोवियत संघ के पतन के बाद नाटो खेमें के साम्राज्यवादियों के बीच की पुरानी एकता ज्यादा मजबूत हुई है **या** कमजोर हुई है? कोई भी देख सकता है कि नाटो खेमे की पुरानी एकता अब नहीं रही। **नवीनतम** स्थिति यह है कि रूस और अमेरिका के बीच की पुरानी सैनिक प्रतिस्पर्धा नये रूप में नये गठबंधनों और नयी पैतरेबाजियों के साथ फिर से पैदा होती दिखाई पड़ रही है। यूरोपीय यूनियन के मसले पर फ्रांस और जर्मनी एक तरफ, तो ब्रिटेन और अमेरिका दूसरी तरफ। यूरोपीय यूनियन में अपने सहयोगियों के प्रवेश, अधिकार और वर्चस्व के लिए लड़ते हुए इनकी **दर्शनीय तनातनी** से सभी लोग वाकिफ हैं। अगर अमेरिकी सैनिक ताकत के समक्ष फ्रांस और जर्मनी बौने नजर आते हैं और अमरीकी दादागिरी का विरोध करते हुए भी कुछ नहीं कर पा रहे हैं, तो **यह उनकी मजबूरी है, एकता नहीं।** आजकल ईरान के सवाल पर रूस और अमरीका की **खुलेआम तनातनी** आज की सच्चाई है। यूगोस्लाविया, अफगानिस्तान और फिर इराक में पुराने यूरोपीय साम्राज्यवादियों (फ्रांस और जर्मनी) के हितों को जिस तरह रौंदा गया, वह साम्राज्यवादी ताकतों की एकता की तस्वीर कदापि नहीं पेश करता है। इसके विपरीत, यह **क्रमशः** खुला रूप अख्तियार करती जा रही वैसी साम्राज्यवादी होड़ को दिखाता है, जो प्रायः साम्राज्यवादी युद्धोन्मादी गुटों के निर्माण के पहले चरण की साम्राज्यवादी सरगर्मियों - **परदे के पीछे** की कुटनीतिक चालें, एकता और टकराव, घात-प्रतिघात और छुपे तौर तरीके

आदि – से जुड़ीं दुरूह (खुले या गुप्त) प्रक्रियाओं को प्रतिबिम्बित करती है। ये सभी सरगर्मियां आगे चलकर साम्राज्यवादी विस्फोट (युद्धोन्माद) को जन्म देने की क्षमता रखती हैं। इन सबमें जो दिखाई देती है, वह स्पष्ट रूप से 'भ्रातृघातक' कुटनीति है, एकता नहीं।

हम इन गुप्त या खुली प्रक्रियाओं को पिछले एक दशक के दौरान कभी कोसोवो (युगोस्लाविया), कभी अफगानिस्तान, कभी इराक, तो कभी युरोपीय यूनियन के संविधान गठन और आर्थिक नीतियों संबंधी प्रक्रियाओं में प्रतिबिम्बित होते देख रहे हैं। हर जगह हमें अमेरिकी कर्कश स्वर सुनाई पड़ते हैं, तो जबाव में यूरोपीय तीखी या नरम प्रतिक्रिया भी। शीत युद्ध (cold war between The US and USSR) के खात्मे के **बाद भी** यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों के रक्षा बजट में हुए **अप्रत्याशित** इजाफे भी गौर करने लायक चीज हैं। युगोस्लाविया में अमेरिकी हस्तक्षेप के दौरान ही यह स्पष्ट हो गया था कि वे (यूरोपीय शक्तियां, खासकर फ्रांस और जर्मनी) जल्द से जल्द नाटों से अलग अपने लिए एक ऐसी सैनिक और आर्थिक स्थिति बनाना चाहते हैं और स्वतंत्र रूप से 'यूरोपीय' हितों की रक्षा करना चाहते हैं। तीखे अमेरिकी विरोध को धत्ता बताते हुए '' रैपिड डिप्लॉयमेंट फोर्स '' का गठन करना इसका पुख्ता प्रमाण है। अभी हाल में पोलैंड संकट पर रूस के कड़े तेवर ने अमरीका को पीछे हटने पर मजबूर कर दिया है। निश्चय ही इन सबका अर्थ एकता नहीं, कुछ और है – याने, खुले टक्कर व प्रतिरोध के पहले की कुटनीतिक पैतरेबाजियां।

उनकी **तीसरी** बात लें। उनका यह कहना कि – समकालीन वित्तीय पूंजी बैंकों के द्वारा नियंत्रित पूंजी और उद्यमियों के द्वार लगाायी जाने वाली पूंजी नहीं है जैसा कि लेनिन ने कहा था – समग्रता में सही नहीं है। वे ऐसा शायद इस तरह सोचते हैं – यह पूंजी स्टॉक एक्सचेंज में और शेयरों के रूप में लगती है और फिर कम्प्यूटर के बटन के सहारे जब चाहे उड़ जाती है, तो यह उद्यमों में कैसे लगती है। पटनायक शायद इसी तरह विचार करते हैं। परंतु, बात यह है कि यह पूंजी सिर्फ शेयर में ही नहीं लगती, बान्ड खरीदने में भी लगती है (जैसा कि हमने दिखाया है) और प्रत्यक्ष निवेश के रूप में भी लगती है। और, शेयर की बात करें तो ऐसा क्यों होता है कि **चढ़ती वाले उद्योगों में ही** ये ज्यादातर लगते हैं। इसका आखिर क्या कारण है कि **विकासमान उद्योगों में ही** शेयरों के दाम उपर चढ़ते हैं? सट्टेबाज विकासमान उद्योगों में ही पूंजी लगाते हैं। वित्तीय सट्टेबाज विकासमान उद्योग वाले देशों को अपना निशाना बनाते हैं। इससे तो यही साबित होता है कि यह पूंजी चाहे जितनी आवारा हो, इसकी सांसें (मुनाफा) भी तभी तक हैं जब तक कि उद्योग विकास कर रहे हैं।

पटनायक की चौथी बात को लें। वे कहते हैं कि यह किसी खास साम्राज्यवादी देश में बैंक और औद्योगिक पूंजी का परस्पर जुड़ना भी नहीं है। वे ऐसी बात **शायद** इसलिए कहते हैं क्योंकि वे वित्तीय पूंजी के बाह्य निकास और फिर उसका दूसरे देशों के उद्योगों में लगने को, जो साम्राज्यवादी पूंजीवाद की एक मुख्य विशेषता है, औद्योगिक पूंजी और वित्तीय पूंजी का मिलना नहीं मानते हैं। शायद वे ऐसा तभी मानेंगे जब स्वयं साम्राज्यवादी देशों में ही यह मिलन हो। परंतु उनकी यह बात क्या मान्य हो सकती है? सरकार अगर बान्ड जारी करके पूंजी का जुगाड़ करती है और परियोजनओं में लगाती है तो श्री पटनायक इसे मिलन नहीं मानते हैं। सवाल यह है कि वित्तीय पूंजी सिर्फ साम्राज्यवादी देशों में ही क्यों लगेगी? पूंजी-निर्यात तो वहीं होगा जहां अधिकतम मुनाफे की गारंटी हो सकती है।

(vi)

जीवन स्वयं यह साबित कर रहा है कि वित्तीय पूंजी की निरपेक्ष आवारगी और एकजुटता की यह बात सच नहीं है। वैश्विक वित्तीय पूंजी का प्रवाह जिस तरह हो रहा है वह स्वयं इस प्रतिद्वंद्विता को बखूबी दिखा रहा है। यूरोपीय यूनियन (EU) और नाफ्टा (NAFTA) में मौजूद और खुलकर दिखाई देने वाला क्षेत्रीय वित्तीय पूर्वाग्रह (Regional Bias) आखिर क्या है? क्या यह प्रतिद्वंद्विता नहीं है? इस क्षेत्रीय पूर्वाग्रह के सारे रंग – राजनीतिक और आर्थिक दोनो-खुलकर दिखते हैं। इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति इस रूप में देखी जा सकती है कि इन गठबंधनों में शामिल राज्यों के लिए तो व्यापार बाधाओं (कर आदि) को कम किया जाता है, परंतु, दूसरों के लिए नहीं, **बावजूद** इसके कि पूंजी का जुगाड़ वैश्विक बाजार में ही किया जाता है, या प्रतिस्पर्धात्मक पैमाना वैश्विक ही बना रहता है, **या जबकि** संचार और सूचना तंत्र का आधार वैश्विक ही बना रहता है। अगर हम पटनायक की बात मान लें तो इन सब बातों की व्याख्या कैसे करेंगे ?

इसी तरह, जिस 'गरम मुद्रा' रूपी नयी वित्तीय पूंजी को वे एकजुट वित्तीय सत्ता कह रहे हैं, वे एकजुट दिखने में तो हैं, लेकिन वास्तव में वह एकजुट नहीं हैं और न ही रह सकती है। 1997 तक के आंकड़े यह बताते हैं कि पूरे विश्व में फैली हजारों देशी, क्षेत्रीय और वैश्विक फंड प्रबंधन संस्थाओं (संस्थागत निवेशकर्त्ता) में **सबसे ऊपर दस** (top ten) में से तीन अमेरिका आधारित, तीन स्वीट्जरलैंड आधारित, दो जापान आधारित और एक-एक फ्रांस और ब्रिटेन आधारित हैं। फंडों के बीच समामेलन भी हो रहे हैं। कम पूंजी और ताकत वाले दर्जनों फंड संस्थायें अपने को बड़े फंड संस्थानों को बेच कर भाग रहे हैं। **एक तरफ** 1997 में, स्वीस बैंक कॉरपोरेशन और यूनियन बैंक ऑफ स्वीट्जरलैंड के बीच कुल 920 बिलियन डॉलर का मिलन हुआ, जिसने इसे दुनिया का सबसे बड़ा फंड मैनेजर बना दिया, वहीं, **दूसरी तरफ,** एल.जी.टी. ऐसेट मैनेजमेंट (LGT Asset management) जैसी प्रतिष्ठित फंड संस्था को अपने 65 बिलियन डॉलर का कारोबार बेच कर बाजार से अपना बोरिया बिस्तर समेट लेना पड़ा।

क्या यह प्रतिस्पर्धा का फल नहीं है, प्रतिस्पर्धा का स्तर चाहे जो भी हो? प्रतिस्पर्धा से बचने के लिए ही तो यह सब हो रहा है, जिसे हमलोग वित्तीय अल्पतंत्र का एकाधिकार विस्तार कहते हैं।

यह सच है कि सभी फंडों में कई देशों के निवेशकर्ताओं के पैसे लगे हुए हैं, परंतु प्रश्न तो यह है कि कौन इसके पीछे है जो इन सबको चला रहा है और मुनाफा का बड़ा हिस्सा गटक रहा है। उदाहरण के लिए, दुनिया भर में फैले म्यूचुअल फंड और पेंसन फंड में पूरी दुनिया के छोटे निवेशकों के पैसे लगे हैं, परंतु इससे कौन इनकार कर सकता है कि इसको चलाने वाले असली शार्क कोई और हैं, जिनकी जड़ें किसी न किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र-राज्य में हैं और **संकट के काल में** वे उस साम्राज्यवादी राष्ट्र की सैनिक-राजनीतिक-कुटनीतिक सहित सभी तरह की ताकतों का अपने लिए भरपूर इस्तेमाल करते हैं जैसा कि हमने मेक्सिको के संकट में हुआ दिखाया है। जो असली शार्क हैं, उनके बीच एक स्तर का, जिस हद तक इस क्षेत्र में एकाधिकार का विस्तर हुआ है, घमासान मचा हुआ है। एकजुटता की बात **एकमात्र** कानूनी वैद्य समाचार (juridically valid news) की हैसियत में ही है। अगर यह सच नहीं है, तो फंडों के बीच अधिग्रहरण (take over) और समामेलन (mergers) आदि **हो ही क्यों रहे हैं?** ये तो किये ही इसलिए जाते हैं ताकि गलाकाटु प्रतिस्पर्धा से बचा जा सके और ज्यादा से ज्यादा ताकत और इसके बल पर अधिकतम मुनाफा को सुनिश्चित किया जा सके। क्या वे बता सकते हैं कि इनके द्वारा वर्णित तथाकथित गरम मुद्रा और अंतरराष्ट्रीय पूंजियों के बीच कहां एकाधिकार विस्तार नहीं हो रहा है। अगर वे आंख उठाकर देखेंगे तो उन्हें हर जगह अधिग्रहण और समामेलन का ही नजारा दिखेगा और उन्हें इन सबमें गलाकाटु प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वंद्विता ही दिखेगी, न कि एकजुटता।

(vii)

पटनायक की **नयी** राष्ट्र-राज्यविहीन पूंजी को एक बार फिर लें। आखिर इस बात को कहने का आधार क्या है कि नयी वित्त पूंजी राष्ट्र-राज्यविहीन है। हम उपर देख चुके हैं कि राष्ट-राज्य की रणनीतिक वापसी (strategic withdrawal) का मतलब यह नहीं है कि राष्ट्र-राज्य बेमानी, बेकार या अनावश्यक हो गये हैं। राज्य की रणनीतिक वापसी का अर्थ सिर्फ इतना है कि पूंजी की लूट के आगे जनता के 'कल्याण' से संबंधित कार्यभारों से राज्य की छुट्टी कर दी गयी है। परंतु, जनता की हड्डी पसली तोड़ देने के लिए राज्य की पूरी ताकत का इस्तेमाल होते हम रोज देखते हैं। नयी वित्तीय पूंजी के मामले में भी राज्य की वापसी को इसी नजरिए से देखना चाहिए। इसी तरह यह साबित करना भी मुश्किल है कि तथाकथित नयी अंतरराष्ट्रीय वित्त पूंजी ने साम्राज्यवादियों के विभिन्न गुटों की प्रतिद्वंद्विता को कम किया है। रोज-रोज की अंतरराष्ट्रीय घटनायें ऐसी बातों की संभावना को नकार रही हैं। और यह साबित करना तो और मुश्किल है कि इसने वित्तीय पूंजियों के विभिन्न घटकों के बीच एकनिष्ठता कायम कर दी है। यह महज एक अंदाज-ए-बयां और जुमलेवाजी की हैसियत रखता है।

अगर हम **थोड़ी देर के लिए** यह मान भी लें कि 'नयी' वित्तीय पूंजी के विभिन्न गुट आज एकजुट हैं, तो कल भी ये एकजुट रहेंगे, यह संभव नहीं है। आज अगर ये शांतिपूर्ण ढंग से, आपस में किसी भयानक नोक-झोंक और हिंसक टकराव के बिना ही प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं और विश्व के गरीब मुल्कों आदि को लूटने में लगे हुए हैं, तो यह वह स्थिति है जो हमेशा बरकरार नहीं रह सकती है। श्री पटनायक अच्छी तरह जानते हैं कि साम्राज्यवादी-वित्तीय हितों की टकराहटों का यह **वह** कुटनीतिक और 'अहिंसक' दौर है जो उनके बीच के एक खास तरह के संतुलन (या असंतुलन को) को व्यक्त कर रहा है। बस और कुछ नहीं। और, क्या यह पहली बार हुआ है? क्या साम्राज्यवादियों के बीच पहले दिन से लेकर आखिरी दिन तक भयानक और तीखे टकराव होते रहते हैं? क्या उनके बीच शांतिपूर्ण और अहिंसक कुटनीतिक एकता कभी नहीं बनती है? और निस्संदेह उनके बीच एकजुटता भी बनती है, परंतु समझने वाली बात यह है कि वे अस्थायी और कुटनीतिक चरित्र की ही हो सकती हैं।

प्रथम विश्व युद्ध के पहले अमरीकी, ब्रिटीश और जर्मन वित्त पूंजी ने एक साथ मिलकर व्यापारिक जहाज रानी के क्षेत्र में बीस वर्षीय संधि (अंतर्राष्ट्रीय कार्टेल) कायम कर के दुनिया के सभी बंदरगाहों का आपस में शांतिपूर्ण बंटबारा कर लिया था। 1907 में जर्मन और अमेरिकी वित्तीय पूंजियों ने मिलकर बिजली के क्षेत्र को आपस में बांट लिया था। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं, परंतु उदाहरणों को गिनते रहने से अधिक उसके अंतर्य को समझना जरूरी है। जब प्रथम युद्ध शुरू हुआ, तो ये सारे समझौते और सारे गठबंधन **धरे के धरे** रह गये। ब्रिटेन एक तरफ, तो जर्मनी दूसरी तरफ। बदली हुई हालत में जब शक्तियों का पुराना संतुलन टूट गया, तो बंटबारा का सवाल पूंजीवाद में **बल प्रयोग के अतिरिक्त** और किस चीज से हल हो सकता था? तथाकथित शांतिपूर्ण और 'एकबद्ध' वित्तीय सत्ता तार-तार होकर एक दूसरे के खिलाफ टूट पड़ीं।

साम्राज्यवादियों के बीच मौजूद शक्ति संतुलन के एक खास दौर के संगत (corresponding) उनके बीच तथाकथित एकजुटता और शांतिपूर्ण बंटबारा का एक दौर भी अवश्य आता है। वैसे ही, यह सत्य है कि मौजूदा संतुलन कल असंतुलन में बदल जायेगा। मौजूदा संतुलन को संभव बनाने वाली स्थितियां जब स्वयं बदल जाती हैं, खूद वे ही असंतुलन में चली जाती हैं, तो शक्तियों के वर्तमान संतुलन का असंतुलन में बदलना अनिवार्य है। यह किसी तरह की व्यक्तिगत इच्छा का प्रश्न नहीं है कि कोई उसे वश में कर ले। और वे स्थितियां, जिनके बदलने से संतुलन असंतुलन में बदल जाता

है, कुछ और नहीं स्वयं पूंजीवादी विकास की स्थितियां हैं जो हमेशा असमान होती हैं। पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के अंतर्गत विकास हमेशा असमान होते हैं, और असमान ही हो सकते हैं, जो दुनिया के अलग-अलग देशों, अलग-अलग क्षेत्रों को आर्थिक प्रगति के अलग-अलग दौर में धकेल देते हैं। साम्राज्यवाद के अंतर्गत इसके कम होने की तो खैर बात ही नहीं है। एकाधिकार विस्तार के हरेक चरण में यह असमानता और तीखे रूप से बढ़ती जाती है। हम अगर यह भी मान लें कि किसी काल्पनिक जादुई शक्ति ने इस क्षण (जिस क्षण पटनायक ने ऐसी बातें लिखीं या सोची होंगी) पूंजीवादी विकास को समान बना दिया है, तो भी, तुरंत ही कल, परसों, महीनों और बरसों में, यह समान विकास असमान विकास में बदल जायेगा। आज जो एक खास तरह का संतुलन दिखाई दे रहा है, कल असंतुलन में बदल जायेगा और तब आपसी बंटबारे का सवाल बल प्रयोग से ही होगा। नया संतुलन खुद युद्ध का कारण भी होता है और उसकी उपज भी। दोनों विश्व युद्ध के अनुभव इस बात को साबित करते हैं।

(viii)

यह बिल्कुल सच है कि यूरो डॉलर बाजार की विलक्षण परिघटना ने एक नये ढंग की अंतर्राष्ट्रीय वित्त पूंजी को जन्म दिया है। लेकिन इस नये में इनके संघर्ष और सौदों के सारतत्व में कुछ भी नया नहीं है। जो नया है वह संघर्ष और सौदों के रूप में, आकार और रूप में है, इसकी बाह्य संरचना में है। पटनायक यह मानकर चलते हैं कि वित्तीय पूंजी के इस नये अवतार में ''विभिन्न देशों की वित्तीय पूंजियां बराबर की हिस्सेदार हैं'' और यह भी मानकर चलते हैं कि ''यह उद्यमियों द्वारा लगायी जाने वाली पूंजियां नहीं हैं।'' ऐसा कहते हुए वे यह 'भूल' जाते हैं कि, जैसा कि पहले कहा गया है, अगर आज वे बराबर की हिस्सेदार हैं (जो वास्तव में नहीं हैं), तो कल भी सभी बराबर के हिस्सेदार होंगे यह तो वही मानेगा जो नौसिखुआ है, पूंजीवादी विकास और साम्राज्यवाद के बारे में अज्ञानी है। पूंजीवादी विकास का चरित्र असमान होता है और उसका यह असमान चरित्र ऐसी किसी भविष्यवाणी की इजाजत कतई नहीं देता है जैसा कि पटनायक करते दिखते हैं। पटनायक विद्वान और सुलझे हुए अर्थशास्त्री हैं और इन सब बातों को अच्छी तरह जानते हैं। तभी ऐसा कहते हुए उनका अंतर्मन डोल जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो वे स्वयं आत्म-अंतर्विरोध में फंसे हों। वे यह कहने के लिए मजबूर हो जातें हैं कि - ''यह कहने का अर्थ यह नहीं है कि विकसित पूंजीवादी केंद्रों के वित्त का प्रभुत्व नहीं है।'' (वही)

परंतु वे अपनी कही हुई बात का सही अर्थ (प्रभुत्व वाली बात का निहितार्थ) जानबूझ कर लगाना नहीं चाहते हैं। अगर विकसित पूंजीवादी देशों के वित्त का प्रभुत्व है, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, तो इसका परिणाम यही हो सकता है कि दिखने वाली एकजुटता छलावा है। किसी एक के प्रभुत्व के साथ बाकियों की उसके साथ एकता अव्वल तो संभव नहीं है और अगर है तो बहुत दिन तक चलने वाली चीज नहीं है। सच यह है कि वित्तीय पूंजी, **यह जानते हुए भी** कि ये अगर एकजुट नहीं रहेंगी, तो इनका विनाश हो जायेगा, एकजुट नहीं रह सकती है। वे हर हाल में युद्ध के लिए प्रेरित और बाध्य होती हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण कि वे इस नयी वित्तीय पूंजी के भिन्न-भिन्न घटकों के आर्थिक व राजनीतिक हितों की ठोस व्याख्या करके अपनी बातों की पुष्टि नहीं करते हैं, बस उनकी एकजुटता के बारे में मनमाना निष्कर्ष निकालते हैं और साम्राज्यवादियों के भ्रमों को अपना लेते हैं। वे बस मान लेते हैं कि उनकी एक एकजुट सत्ता है, लेकिन इससे संबंधित तथ्यों के अंबार की छानबीन नहीं करते हैं। अगर वे विभिन्न वित्तीय गुटों के वास्तविक और क्रियाशील आर्थिक हितों की व्याख्या करते और सतह के नीचे होने वाले घातों-प्रतिघातों की प्रतिध्वनी, जो अन्यथा बिल्कुल स्पष्ट हैं, को सुनने की कोशिश करते, तो स्वयं उन्हें दिखाई पड़ जाता कि वे वास्तव में एकजुट नहीं हैं। वे इन बातों को नहीं समझते हैं ऐसी बात तो हम सोच भी नहीं सकते हैं। उन्हें स्वयं यह ज्ञात है कि उनके तर्क वजनदार नहीं है और तथ्यों की रौशनी में खरे उतरनेवाले नहीं हैं। इसीलिए इतनी बड़ी-बड़ी बात कह देने के बाद **पीछे हटने** के लिए जगह बनाने के लिए वे मजबूर होते हैं। जब वे एक एकजुट वित्तीय सत्ता की बात कहते हैं, तो तुरंत ही उन्हें अगर-मगर करके यह भी कहना पड़ता है -

''इसका अर्थ यह **कतई** नहीं है कि उनके बीच अंतर्विरोध नहीं है या ये अंतर्विरोध भविष्य में बड़े टकरावों के रूप में अब नहीं फूटेंगे।''(वही)

वे 'फिलहाल', 'कम से कम' जैसे शब्दों से काम चलाने के लिए बाध्य होते हैं। जरा उनका यह नुक्ता देखिये - ''फिलहाल तो, **और कम से कम**, तीसरी दुनिया का सामना करने के मामले में तो जरूर ही, उनके बीच लेनिन के जमाने के मुकाबले **कहीं ज्यादा** एकता है।'' (वही, जोर हमारा)

कोई भी देख सकता है कि उन्हें अपनी बात कहने में किसी और चीज से ज्यादा उनका अपना आत्मविश्वास ही साथ छोड़ दे रहा है।

(ix)

सभी जानते हैं कि लेनिन के जमाने में भी साम्राज्यवादियों के बीच तात्कालिक एकता बनती रही है, उनके बीच शक्तियों का संतुलन-असंतुलन बनता बिगड़ता रहा है जो इस तात्कालिक एकता को संभव और असंभव बनाता है। इसके बारे में ''कम से कम'' या ''ज्यादा से ज्यादा'' के खांचे में रख कर बात करने से कुछ भी हासिल नहीं होने वाला है। साम्राज्यवाद के बारे में लेनिन की थेसिस को पढ़ने वाला कोई भी इमानदार व्यक्ति यही

मानेगा कि इस तरह से बात करना चीजों को गति में और उनके अपने ही अंतर्सम्बन्धों में देखने की मार्क्सवादी विधि के विरूद्ध है।

साम्राज्यवाद के दौर में लेनिन ने अस्थायी शांति की बात को कभी खारिज नहीं किया था। बल्कि लेनिन का मानना था कि युद्ध के विकल्प तक पहुंचने के पहले ऐसी कुटनीतिक एकता प्राय: **जरूरी** होती है। अर्थात, युद्ध तक आने के पहले **एकता के जरिए** लूट और वर्चस्व को आगे बढ़ाने की **सारी** संभावनाओं का खत्म होना जरूरी होता है। ऐसी सारी संभावनाओं के खत्म होने के बाद ही जाकर युद्ध का विकल्प **वास्तविक** रूप ले पाता है। साम्राज्यवादियों के बारे चर्चा करने का यही वैज्ञानिक और मार्क्सर्ववादी-लेनिनवादी तरीका है। साम्राज्यवादियों के बीच हमेशा युद्ध की स्थिति नहीं बनी रहती है। ये सब बेकार और फिजूल की मनगढ़ंत और खोखली बातें हैं। और उतनी ही खोखली बात यह है कि तीसरी दुनिया के देशों के शोषण में साम्राज्यवाद पूरी तरह एकताबद्ध है।

क्या आज दुनिया में कहीं कोई ऐसी जगह है जहां साम्राज्यवादियों के बीच अस्थायी शांतिपूर्ण दौर के होते हुए भी उनके बीच कुटनीतिक घमासान नहीं मचा हुआ है? ओह! श्री पटनायक को कहीं खुला सैनिक टकराव साम्राज्यवादियों के बीच दिखाई नहीं दे रहा है! वे शायद इस तरह सोचते हैं; अगर अंतर्विरोध है तो युगोस्लाविया, इराक, अफगानिस्तान, पूर्वी यूरोप और सम्पूर्ण मध्य एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवादी हितों को रौंद देने वाले अमेरिकी-ब्रिटीश गंठजोड़ के खिलाफ जर्मनी, रूस और फ्रांस आदि देश मिसाईल लेकर हमला क्यों नहीं कर रहे हैं? और वे निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि इसीलिए यह एकजुट वित्तीय सत्ता का परिचायक है! शायद एकजुट वित्तीय सत्ता में दरार उन्हें **एकमात्र** तभी दिखाई देगा जब अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, रूस आदि साम्राज्यवादी देश अपने विरोधियों के खिलाफ युद्ध में सीधे-सीधे कूद पड़ेंगे। परंतु, जब युद्ध **आखिरकार** हो ही जायेगा, तब इसकी बारूदी गंध अंधों और बहरों के नथूनों में घुस कर उन्हें भी बता देगी कि साम्राज्यवादियों के बीच दरार था और है। युद्ध तो युद्ध होते हैं, परदे के पीछे होने वाले कुटनीतिक घमासान नहीं (हालांकि युद्ध उनका ही जारी रूप होता है) जो किसी को दिखाई न दे। और तब प्रभात पटनायक जैसे विद्वानों की क्या जरूरत है, जिनसे आशा की जाती है कि वे सतह के नीचे चल रही आर्थिक, राजनीतिक और कुटनीतिक घातों-प्रतिघातों की मद्धिम से मद्धिम आहट सुनकर आसन्न युद्धों की ही नहीं, **भावी युद्धों की भी** मोटा-मोटी भविष्यवाणी करें और अपने पाठकों को साम्राज्यवाद के बारे में ठीक-ठीक समझदारी बनाने में मदद करें!

(x)

श्री पटनायक फिर कहते हैं - 'वैश्वीकृत वित्त दुनिया भर से खिंचकर आता है और रातों-रात मुनाफे की, और अक्सर सट्टाबाजाराना गतिविधियों में ऐसे मुनाफे की तलाश में रहता है। संक्षेप में, इस वित्तीय पूंजी का काफी हिस्सा ''आवारा पूंजी'' के प्रवाहों के रूप में काम करता है।' (वही)

यह सच है, परंतु वे इससे जो निहितार्थ निकालते हैं उससे सहमत नहीं हुआ जा सकता है। साथ ही, यह सच होते हुए भी कि यूरो डॉलर का वित्तीय बाजार अपने आप में एक नयी और विलक्षण घटना है, इससे बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के बीच प्रचलित शब्दों (आवारा पूंजी, गर्म मुद्रा आदि जो सही होते हुए भी इसके अंतर्य पर परदा डालते हैं, इसे समझने में बाधा पैदा करते हैं) के आधार पर सतही निष्कर्ष निकालना गलत होगा। अगर इस पूंजी को उत्पादन के क्षेत्रों से कुछ भी लेना-देना नहीं है। अगर ऐसा है तो वे विकासमान अर्थव्यवस्थाओं की ओर क्यों दौड़ती हैं? क्यों नहीं उन सूखे क्षेत्रों में ही पड़ी रहती हैं? सट्टाखोर पूंजी भी हवा पी कर जिंदा नहीं रह सकती है। उसे भी मुनाफा के लिए विकासमान क्षेत्रों की जरूरत होती है। भारत में इसका सबसे अच्छा उदाहरण कल के उदीयमान आई.टी. सेक्टर का दिया जा सकता है जहां सट्टाखोर पूंजी ने छक कर लाभ कमाए। शेयरों के भाव (चाहे वे कागजी कंपनी के ही क्यों न हों) वहीं उठते हैं जहां विकास होता रहता है! सच तो यह है कि कोई भी वित्तीय पूंजी **निरपेक्ष रूप से** न तो स्वतंत्र हो सकती और न ही आवारा हो सकती है। इससे सम्बन्धित तथ्यों की बात करें तो हम पहले ही दिखा चुके हैं कि पोर्टफोलियो निवेश में उसका भी एक बड़ा हिस्सा है जो बौंडों के माध्यम से विभिन्न परियोजनाओं के विकास में अंतर्जातीय कंपनियों, सरकारों और यहां तक कि विश्व बैंक के द्वारा विकासशील देशों में परियोजनात्मक विकास में लगाया गया है।

पूंजीवाद में **आम तौर से** पूंजी के स्वामित्व को उत्पादन में पूंजी लगाने से स्वतंत्र कर दिया जाता है, **न कि** पूंजी को ही उत्पादन से अलग कर दिया जाता है। पूंजी के स्वामित्व का यह अलगाव आज बहुत अधिक हो गया है और वर्तमान वित्तीय पूंजी ने इसे नयी ऊंचाईयों पर पहुंचा दिया है, जिससे यह लगता है कि यह पूंजी पूरी तरह आवारा है और उत्पादन के क्षेत्रों से इसे कुछ भी लेना देना नहीं है। दरअसल यह जानना जरूरी है कि यह वित्त पूंजी कहां आवारगर्दी करती है। या तो यह वित्तीय कारोबार में या फिर स्टॉक एक्सचेंज में आवारागर्दी करती है। लेकिन स्टॉक एक्सचेंज में क्यों? क्योंकि उसका उपयोग वह देश अपनी अर्थव्यवस्था के विकास में उसे लगाता है, वह विकास चाहे जैसा भी हो। आवारगी भी तभी संभव है जब पेट में दाना हो। भूखे तो आवारगी भी नहीं होगी। कहा जा रहा है कि आज भारत इस वित्तीय पूंजी को आकर्षित करने में लगा है। लेकिन सवाल तो यह है कि यह वित्त पूंजी **स्वयं क्यों** भारत की ओर आकर्षित हो रही है? वह चाहती तो नहीं आती, कहीं और आवारगी करती। यहीं क्यों? इसीलिए, क्योंकि यहां

की अर्थव्यवस्था अभी विकासमान है और उन्हें अकूत लाभ दे रही है। जब तक यह बुलबुला नहीं फूटेगा या फूटने की संभावना नहीं होगी, या जब तक कि कोई और चरागाह उन्हें नहीं मिल जाये, या कोई और खास घटना न घट जाये (जैसे यहां कोई जन विद्रोह हो जाये), वे यहां से क्यों उड़ेंगी? यह अलग बात है कि वे जिस अर्थव्यवस्था में घूसेंगी, उसकी तबाही तय है, क्योंकि वे बनाबटी विकास का गुब्बारा बनाते हैं जिसके फूटने की संभावना देखते ही वे उड़नछू हो जायेंगी और उस अर्थव्यवस्था का दिवाला निकाल देंगी। वे जिससे अपना मुनाफा ग्रहण करती हैं, उसी को तबाह करती हैं। लेकिन यही तो वित्तीय अल्पतंत्र है जो ऐसे ही विनष्टकारी अंतर्विरोधों, अतार्किकताओं और मरणासन्न व परजीवी प्रवृतियों का योग है। इनसे वह कभी मुक्त नहीं हो सकता है। वित्तीय अल्पतंत्र को अपनी इन अभिलाक्षणिकताओं के साथ ही तथा इनके राजनीतिक खोल और आश्रय (पूंजीवादी जनवाद) के साथ ही इतिहास के रंगमंच से विदा लेना होगा। इसमें आश्चर्य की कोई गुंजायश नहीं है।

(xi)

यह विचारणीय है कि पटनायक ऐसा क्यों नहीं करते हैं? लेकिन इससे भी अधिक विचारणीय बात यह है कि ऐसा क्या है जिससे उन्हें साम्राज्यवादियों के बीच सर्वत्र एकता ही एकता दिखाई दे रही है। क्यों वे लेनिन से 'आगे' जाने की कोशिश कर रहे हैं जब कि ऐसी कोई जरूरत दिखाई दे नहीं रही है। वित्त पूंजी के आपसी संघर्ष और सौदों के रूपों में हजारों परिवर्तन आ सकते हैं। आयेंगे ही। वित्त पूंजी के जीवन काल में उनके बीच होने वाले भीषण टकरावों के **मध्य ही** शांतिपूर्ण दौर भी आते हैं और हल्के या भारी अशांतिपूर्ण दौर भी। वे इस बात के ज्ञाता हैं और कई जगहों पर इन सबके बारे में लिखते भी रहे हैं। फिर भी आखिर वह क्या चीज है जिसके लिए वे वित्तीय पूंजी और इसके सारतत्व के बारे में लेनिनीय समझदारी को तिलांजलि देने के लिए तैयार हैं। असल बात यह है कि वे साम्राज्यवाद के खिलाफ मजदूर वर्ग की एक **नयी** कूटनीतिक पहलकदमी के लिए रास्ता प्रशस्त करने के लिए प्रयासरत हैं। आइये, देखें कि वह क्या है।

हम उनकी पुस्तक 'साम्राज्यवाद : नया और पुराना' में ही देख सकते हैं कि वे अपने इस नये सिद्धांत का 'उपयोग' पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने के मजदूर वर्ग के युगीन क्रांतिकारी कार्यभारों और चुनौतियों को लेनिनवाद के चिरपरिचित रास्ते से हटाने के लिए कर रहे हैं। "या तो बर्बर साम्राज्यवाद, नहीं तो समाजवाद'' अथवा "या तो पूंजीवादी महाबर्बादी, नहीं तो सर्वहारा अधिनयाकत्व'' जैसे नारे इनके लिए बेमानी बन गये हैं। **मुक्तसर** बात यह है कि वे ''जनतंत्र की हिफाजत'' का झंडा उठाते हैं और इसके लिए ही नयी वित्तीय पूंजी की एकजुटता का तगड़ा तर्क निर्मित करते हैं। अगर साफ-साफ कहा जाए तो वे सीपीएम की संसदीय-व्यवहारवादी लाईन को 'मजबूत' सिद्धांतों से सुसज्जित करना चाहते हैं। वे मानो यह कहते हों - चूकि आज एकजूट वित्तीय सत्ता है और इसीलिए क्रांति दूर की चीज है, इसीलिए ज्यादा से ज्यादा, मजदूर वर्ग जनतंत्र (पूंजीवादी) की रक्षा ही कर ले तो बड़ी बात है, और, आज यही उसका असली कार्यभार होना चाहिए। स्वयं उनके शब्दों में सुनिए - ''इसका अर्थ यह है कि आज के संदर्भ में (एकजुट वैश्विक वित्तीय पूंजी की सार्विक सत्ता के संदर्भ में) , वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाने में जनतंत्र (जाहिर है पूंजीवादी जनतंत्र) की हिफाजत (तथा उसे और गहरा बनाने) की केंद्रीय भूमिका है। लेकिन, जनतंत्र की हिफाजत के लिए एक **वैकल्पिक राष्ट्रीय आर्थिक एजेंडा** का होना जरूरी है जो इस समय चलाए जा रहे गंठजोड़कारी पूंजीवादी एजेंडा से भिन्न हो। यहां यह जरूरी है कि यह एजेंडा **संकीर्ण न हो और पूंजीपति वर्ग के कुछ हिस्सों को अपने साथ आने की गुंजाईश देता हो** ..... और इसके लिए इस एजेंडा में खुद पुनर्वितरणकारी व समतापूर्ण अंतर्वस्तु होना जरूरी है।'' (जोर हमारा)

शायद ही कोई इस बात से इनकार करेगा कि यह वर्ग-समन्वयकारी नीति है। जरा सुनिये तो; मजदूरों को पूंजीपतियों के साथ मिलकर पुनर्वितरणकारी और समतामूर्ण अंतर्वस्तु वाला राष्ट्रीय आर्थिक एजेंडा बनाना चाहिए ताकि साम्राज्यवाद यानी एकाधिकारी पूंजीवाद के द्वारा ''जनतंत्र को समेटे जाने'' की प्रक्रिया को रोका जा सके! लेकिन वे इस बात का क्या जबाव देंगे कि जब जार्ज बुश जैसा स्वेच्छाचारी शासक जनतंत्र के सहारे ही सत्ता में आ सकता है तो इस जनतंत्र की हिफाजत का नारा कितनी सार्थक बात है? भारत में भी जनतंत्र का सहारा लेकर धुर साम्राज्यवाद परस्त पार्टियां सत्ता तक पहुंचती रही हैं। आज भारत में नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में फासीवादी शक्तियां भारत की सत्ता की शीर्ष पर हैं। ये तो जनतंत्र के निकायों के माध्यम से सत्ता में आयी हैं। साम्राज्यवादी और फासीवादी लोग पूंजीवादी जनतंत्र के निकायों का बखूबी इस्तेमाल कर सकते हैं। पूंजीवाद की चरम अवस्था के खिलाफ लड़ने के लिए पूंजीवाद के ही औजारों के प्रति पटनायक का इतना आदर भाव समझ से परे है। **साम्राज्यवाद का विकल्प पूंजीवादी जनवाद है या सर्वहारा जनवाद** - इसका सीधा जबाव देने के बदले वे बेकार के सिद्धांतों की झड़ी लगा देते हैं।

दरअसल नयी वित्तीय पूंजी की एकजुटता की इनकी थेसिस लेनिनवाद से ज्यादा काउत्सकीवाद के नजदीक दिखाई देती है। कार्ल काउत्सकी का कहना था - ''शुद्धत: आर्थिक दृष्टि से यह असंभव नहीं है कि पूंजीवाद एक और मंजिल से गुजरे .....अर्थात महासाम्राज्यवाद की एक मंजिल से गुजरे, जिसमें सारी दुनिया के साम्राज्यवादियों के बीच संघर्ष न होकर उनका एक संघ बन जायेगा, वह एक ऐसी मंजिल होगी, जिसमें पूंजीवाद के अंतर्गत युद्ध बंद हो जायेंगे, वह ''**अंतराष्ट्रीय पैमाने पर एकबद्ध वित्तीय पूंजी** (वही, श्री पटनायक वाली एकजूट वित्तीय पूंजी!) **द्वारा दुनिया के**

संयुक्त शोषण की मंजिल होगी।'' (साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की चरम अवस्था से उद्धृत, जोर हमारा)

यहां कोई भी तुलना करके देख सकता है कि पटनायक का नयी एकजुट वित्तीय पूंजी का सिद्धांत काउत्स्कीवाद है या नहीं। तब लेनिन ने विश्व की आर्थिक और राजनीतिक विषमता की ब्योरेबार और तथ्यों से व्याख्या करते हुए काउत्सकी को जबाव देते हुए लिखा था –

''इस वास्तविकता – आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों की अत्यधिक विषमता, विभिन्न देशें के विकास की रफ्तार में अत्यधिक अंतर, आदि और साम्राज्यवादी राज्यों के ओच भीषण संघर्ष की तुलना 'शांतिपूर्ण अतिसाम्राज्यवाद के बारे में काउत्स्की की मूर्खतापूर्ण कपोल–कल्पना के साथ कीजिए। क्या यह एक भयभीत कूपमंडूक की कठोर वास्तविकता से छिपने की प्रतिक्रियावादी कोशिश नहीं है? जिन अंतर्राष्ट्रीय कार्टेलों को काउत्स्की ''अति साम्राज्यवाद'' का अंकुर समझते हैं, क्या वे दुनिया के विभाजन तथा पुनर्विभाजन का, शांतिपूर्ण विभाजन से अशांतिपूर्ण विभाजन में और अशांतिपूर्ण विभाजन से शांतिपूर्ण विभाजन में संक्रमण का उदाहरण नहीं है? क्या अमेरिका तथा दूसरी वित्त पूंजी, जिसने, उदाहरण के लिए, अंतराष्ट्रीय रेल सिंडीकेट में या अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक जहाजरानी ट्रस्ट में जर्मनी को भी शरीक करके सारी दुनिया को शांतिपूर्वक बांट लिया था, इस समय शक्तियों के एक नये संतुलन के आधार पर, जिसे सर्वथा अशांतिपूर्ण तरीकों से बदला जा रहा है, दुनिया का पुनर्विभाजन करने में व्यस्त नहीं हैं? वित्त पूंजी तथा ट्रस्ट विश्व अर्थव्यवस्था के विभिन्न भागों के विकास की गति के अंतर को कम नहीं करते हैं, बल्कि बढ़ा देते हैं। एक बार शक्तियों का संतुलन बदल जाने पर पूंजीवाद के अंतर्गत इन अंतर्विरोधों को हल करने के लिए बल प्रयोग के अतिरिक्त और क्या उपाय हो सकता है ?'' (साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था)

जब पहली बार कार्टेल बनने शुरू हुए थे, तो बुजुर्आ सिद्धांतकारों की एक अच्छी–खासी संख्या ने ऐसी ही आशा की थी जैसी कि तब काउत्सकी करते थे और आज हमारे पटनायक साहब करते हैं । समग्रता में लेनिन इस प्रवृति को इस तरह व्याख्यायित किया है –

''जो कुछ हो रहा है उसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस बात को जानें कि शक्ति में परिवर्तन होने से **कौन से प्रश्न** तय होते हैं। यह प्रश्न **गौण** है कि ये परिवर्तन ''शुद्धत:'' आर्थिक या गैरआर्थिक हैं (उदाहरण के लिए, सैनिक), क्योंकि इससे पूंजीवाद के नवीनतम युग से संबंधित मूलभूत विचारों में जरा भी अंतर नहीं पड़ता। पूंजीपतियों के संघों के बीच संघर्ष तथा सौदों के **सारतत्व के स्थान पर** संघर्ष तथा सौदों के रूप (आज अशांतिपूर्ण, कल शांतिपूर्ण और परसों फिर अशांतिपूर्ण) का प्रश्न रखना एक कुतर्की की भूमिका में उतर जाने जैसा है। '' (वही, जोर हमारा)

(xii)

इस तरह हम देखते हैं कि नयी वित्तीय पूंजी के चरित्र को लेकर पटनायक ने स्वयं को अंतर्विरोधों में फंसा लिया है। इसका कारण सिर्फ यह है कि यह है कि वे सीपीएम की गलत लाईन की पैरवी में लगे हुए हैं। इसके लिए, उन्हें कई चीजों को नकारना या ढंकना–पोतना पड़ रहा है जिन्हें स्वयं आज का भौतिक जीवन बड़ी ही स्पष्टता, तल्खी और शिद्दत से प्रकट कर रहा है। संशोधनवाद की **शोहबत** चीज ही ऐसी है जो विद्वान से विद्वान लोगों को भी नासमझों की जमात में धकेल देती है। जिनके अध्ययन कक्ष के टेबुल पर विश्व की अर्थव्यवस्था की हालत पर जारी की जा रही अनेकानेक शोध–सामग्रियों की भरमार होंगी, और जो स्वयं ही कई शोधों से जुड़े होंगे, उनके लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि वे इस बात से से इनकार करना चाहते हैं कि तथाकथित नये अंतरराष्ट्रीय वित्तीय अल्पतंत्र के घटक (शार्क वित्तीय महाप्रभु) हजारों दृश्य और अदृश्य धागों से अपने–अपने साम्राज्यवादी राष्ट्र–राज्यों से जुड़े हुए हैं, और उद्देश्य वही है – **दुनिया का आर्थिक और राजनीतिक व सैनिक बंटबारा।** आश्चय तब और होता है जब वे इस अंतराष्ट्रीय वित्तीय अल्पतंत्र के बंटे होने और उनमें हो रहे अधिग्रहण, उनमें से कुछ में प्रकट हो रहे दिवालियेपन आदि की भी अनेदखी कर देते हैं और इन सबसे उचित निष्कर्ष निकालने के बदले वैसी बातें कहते हैं जिन्हें तथ्यों द्वारा साबित करना मुश्किल है। इस सामान्य सी बात को भी वे दरकिनार कर देते हैं कि साम्राज्यवाद रूपी हाथी यह जानते हुए भी युद्ध रूपी दलदल में फंसता है कि एक बार इस दलदल में गिरने के बाद इससे निकलना आसान नहीं होता है। ऐसा है साम्राज्यवाद–पूंजीवाद का राजनैतिक–अर्थशास्त्र।

साम्राज्यवाद के बारे में आज कल लेनिनवाद से इतर की जा रही अनेकाने बातों का खंडन, समग्र और पूर्ण खंडन, स्वयं यह वास्तविक दुनिया कर रही है। जहां तक नयी वित्तीय पूंजी की गुप्त या खुली कार्यवाहियों को उघाड़ने वाले और भी अकाट्य तथ्यों की उपलब्धता की बात है, तो समय के साथ वे और भी मात्रा में प्रकट होंगे जो साबित करेंगे कि बुर्जुआ और संशोधनवादी अर्थशास्त्री किस तरह तथ्यों को भी तोड़–मरोड़ करके पेश करने और लोगों को गुमराह करने की कोशिश करते हैं। जिस मात्रा में इससे संबंधित शोध हुए हैं, उतनी तेजी से तथ्य आज खुलकर नहीं आ रहे हैं, फिर भी, जितने तथ्य सामने आये हैं, उनका ही अगर सम्यक अध्ययन किया जाये, जिसमें पटनायक जैसे विद्वान लोग अन्यों की तुलना में कहीं ज्यादा सक्षम हैं, तो यह पता लगाना कठिन नहीं है कि वित्तीय पूंजी और साम्राज्यवादियों की तथाकथित एकजुटता का सिद्धांत महज एक कोरा भ्रम है।

हमें लेनिन की यह याद रखनी चाहिए कि विश्व की पूरी पूंजी एकमात्र ट्रस्ट में एकताबद्ध होने की ओर प्रवृत है, मगर ऐसा होना इस दुनिया में प्रचंड भूचाल पैदा किये बिना नहीं होगा। स्वयं साम्राज्यवाद में विस्फोट होंगे जो साम्राज्यवाद को, वित्तीय अल्पतंत्र को और उसकी एकजुटता और

अंतर्विरोधों को एक ही साथ नष्ट कर देंगे। पूरी दुनिया के छोटे-मंझोले और यहां तक कि कई बड़े से बड़े पूंजी के मालिकों के स्वत्वहरण और स्वामित्वहरण के रास्ते से होकर गुजरने वाला यह केंद्रीकरण बच्चों का खेल नहीं है जिसे देखकर लोग बस तालियां बजायेंगे और खुश होंगे। ऐसा होने के पहले ही यह साम्राज्यवाद नष्ट होकर अपने विपरीत में बदल जायेगा। इस प्रक्रिया के विनाशकारी प्रभाव स्वयं इस धरती पर समाजवाद को साक्षात ला खड़ा करेंगे। अंतत: मानव जाति इसके लिए अंतत: **विवश** हो जायेगी जिसे पूरा करने के लिए सर्वहारा वर्ग को राजनैतिक मंच पर आकर अपना स्थान ग्रहण करना होगा। और, यह सुदूर भविष्य की बात नहीं है, अपितु आज की आवश्यकता है। इसीलिए समाजवाद के लिए संघर्ष किसी सुदूर भविष्य का नहीं, हमारा आज का कार्यभार है।

यह सब कुछ जिस तरह स्वयं साम्राज्यवादियों की इच्छाओं के अधीन नहीं है, वैसे ही यह हमारे, आपके और प्रभात पटनायक जैसे विद्वान लोगों की इच्छाओं से भी परे है। पूंजीवाद-साम्राज्यवाद का अंत पूंजीपतियों और पूंजीवाद के हिमायतियों की इच्छाओं के बावजूद/बिना ही होगा। जहां तक मजदूर व मेहनतकश वर्ग की बात है तो उनकी इच्छायें पूंजीवाद के नाश में शामिल होंगी (वे ही इसका नाश करेंगे), परंतु ये वो इच्छायें हैं जो इतिहास की देन हैं। इसीलिए, वे उन परिस्थितियों की भी देन हैं (इस अर्थ में मजदूर वर्ग की इच्छा स्वयं मजदूरों के अीन नहीं हैं, वे स्वयं इतिहास की गति के अधीन पूंजीवाद का नाश करने के लिए बाध्य होते हैं) जिन्हें स्वयं इस पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था की असीम प्रगति और इसमें (इस प्रगति में) मौजूद अंतर्विरोधों/अतार्किकताओं ने पैदा किया है, और इसीलिए, जो एक वस्तुगत नियम के रूप में प्रगट होता है, और हो रहा है। स्वयं प्रभात पटनायक इन बातों के बड़े ज्ञाता हैं। अर्थशास्त्र के इनके ज्ञान से हम जैसे पाठक लाभ उठाते रहे हैं। परंतु, संशोधनवादी 'वाम' राजनीति से इनके जुड़ाव ने इन्हें अंतत: पूंजी के पक्ष में खड़ा होने के लिए मजबूर कर दिया है। और जब ऐसा इनके जैसा प्रख्यात वाम अर्थशास्त्री करता है, तो बात बहुत खतरनाक बन जाती है। हम चाहें या न चाहें, एक बार फिर, अपनी इच्छा या अनिच्छा के बावजूद, हमें इनके खिलाफ मैदान में उतरना पड़ता है। जाहिर है बात जब साम्राज्यवाद को लेकर आज तक के सर्वाधिक वैज्ञानिक चिंतन से अब तक प्राप्त नतीजों और समझदारी पर बन आई है, तो हम वैज्ञानिक चिंतन की रक्षा के अपने कार्यभार से आंख नहीं फेर सकते हैं।

****